~~Talk Heading~~ वार्ता शीर्षक	कार्यक्रम जिसके अन्तर्गत प्रसारित Programme under which broadcast	~~Date of Broadcast~~ प्रसारित होने की तिथि प्रसारण-तिथि
(१) शङ्कराचार्य	अमरभारती	३१. ६. १९६६
(२) संस्कृत गीतम् "पवन दूत से"	"	११. २. १९६६
(३) रामानुज	भारतभारती	२३. ४. १९६६.
(४) मनु	"	१५. ५. १९६६
(५) आधुनिक संस्कृत साहित्य (१) अम्बिका दत्त व्यास का साहित्य	—	४. ८. १९६६
(६) चार्वाक	भारतभारती	१९. ११. १९६६
(७) नारद	"	Not remembered.
(८) महाभारत का शान्तिपर्व	अमरभारती	१३. १. १९६८
(९) हमारा प्राचीन साहित्य (१) महाभारत		३. ५. १९६८
(१०) गृह्यसूत्रों में शिक्षा	अमरभारती	२९. ६. १९६८
(११) अग्नि	अमरभारती	३१. १०. १९६८
(१२) जाबाल ऋषि		१२. १२. १९६८
(१३) ब्राह्मणग्रन्थों में जनजीवन	"	~~प्रसारणीय तिथि~~ १०. ६. १९६९
(१४) हमारे गौरव ग्रन्थ : कल्हण की राजतरङ्गिणी		८. १०. १९६९

क्रमाङ्क	वार्ता-शीर्षक	कार्यक्रम	प्रसारण-तिथि
(१)	संस्कृत गीतम् "घटकर्पर से"	अमरभारती	८.४.१९६६
(२)	आधुनिक संस्कृत साहित्य (३) शङ्करलाल माहेश्वर का साहित्य	,,	२३.१०.१९६६
(३)	अर्वाचीन संस्कृत नाटकों में राष्ट्रीय भावना	,,	१५.१२.१९६६
(४)	संस्कृत के चम्पूकाव्य — नलचम्पू	अमरभारती	६.४.१९६८
(५)	सोम	,,	१४.११.१९६८
(६)	संस्कृत साहित्य में गान्धीजी	,,	१०.४.१९६९
(७)	कालिदास के स्त्रीपात्र (१) शकुन्तला	External Services Division	~~प्रसारणीय तिथि~~ १०.७.१९६९
(८)	गीत गोविन्द	अमरभारती	२४.८.१९६९
(९)	रामायण चम्पू	,,	१९.११.१९६९
(१०)	स्मृतिकार शङ्ख	,,	२१.१.१९७०
(११)	स्वाहासुधाकर चम्पू		३.६.१९७०

शङ्कराचार्य

सत्यव्रत शास्त्री

श्रुतिस्मृतिपुराणानामालयं करुणालयम्।
नमामि भगवत्पादं शङ्करं लोकशङ्करम्॥

भारतीय तत्त्वज्ञानियों में जिन कतिपय व्यक्तियों का नाम सर्वोपरि आता है उनमें भगवान् शङ्कराचार्य का स्थान है। वे अपने देश के मूर्धन्य दार्शनिक, व्याख्याकार एवं मनीषी थे। उन्होंने बहुत प्राचीन काल से चली आ रही अद्वैत विचारधारा को सुव्यवस्थित रूप दिया, + उसे परिष्कृत दर्शन ही बना दिया। इसी दर्शन से उन्होंने अवैदिक जैन एवं बौद्ध दर्शनों का खण्डन किया। 32 वर्ष तक ही केवल उनका शरीर रहा पर इसी में ही उन्होंने जो धार्मिक विजय, देश के भिन्न-भिन्न भागों में भ्रमण किया, अनेक शास्त्रार्थों से लोहा लिया, नाना ग्रन्थों की रचना की। उनके कौतुक एवं पारदर्शिनी प्रतिभा से सारा देश चमत्कृत हो उठा। अल्पकाल में ही उनकी कीर्ति दसों दिशाओं में फैल गई।

दार्शनिक चक्रवर्ती युगपुरुष श्रीशङ्कराचार्य का जन्म केरल राज्य के कालडी नामक स्थान में हुआ था जो कोचीन – शोरानूर रेलवे लाइन पर अलवाई नामक एक छोटा सा स्टेशन है। इससे पाँच छः मील की दूरी पर यह एक साधारण सा गाँव है। पास में ही इसके अलवाई नदी बहती जो कि इसके प्राकृतिक सौन्दर्य को और बढ़ाती है। भगवान् शङ्कराचार्य का जन्म नम्बूदरी ब्राह्मण कुल में हुआ था। ये ब्राह्मण निष्ठावान्, सदाचारी एवं वैदिक कर्मकाण्ड में विशेष निष्णात होते हैं। श्रीशङ्कराचार्य के पिता का नाम था शिवगुरु और माता का माधव के अनुसार सती एवं आनन्दगिरि के अनुसार विशिष्टा।

शिवगुरु एक श्रद्धेय वैदिक थे। उनकी गृहस्थी सुख से चल रही थी। बहुत समय बीत गया पर उनके यहाँ कोई सन्तान न हुई। शिवगुरु इस कारण चिन्तित रहने लगे। उन्होंने और उनकी पत्नी के मन में वर्ष बीतने के साथ पुत्र-मुख-दर्शन की लालसा प्रबल से प्रबलतर होती गई। पर पुत्र न हुआ। और कोई उपाय न देख उन्होंने तपस्या का निश्चय किया। वे शङ्कर के अनन्य भक्त थे। कालडी के पास ही वृष नामक पर्वत पर केरल नरेश राजशेखर ने भगवान् चन्द्रमौलीश्वर महादेव का मन्दिर बनवाया हुआ था। शिवगुरु ने अलवाई नदी में विधिवत् स्नान कर इन्हीं चन्द्रमौलीश्वर महादेव की एकाग्र मन से उपासना प्रारम्भ की। महादेव प्रसन्न हुए। एक रात वे भक्त के सामने ब्राह्मण रूप में प्रकट हुए और शिवगुरु से पूछने लगे कि तुम क्या चाहते हो। पुत्र-मुख दर्शन के लिये लालायित शिवगुरु ने उत्तर में कहा– महाराज मुझे पुत्र चाहिये + जो मेरे कुल की मर्यादा एवं परम्परा की रक्षा करे। ब्राह्मण वेशधारी भगवान् ने कहा यदि सर्वज्ञ या सरल सर्वज्ञ पुत्र चाहते हो तो वह अल्पायु होगा और यदि दीर्घायु पुत्र चाहते हो तो वह मूर्ख ~~हुआ~~ होगा। शिवगुरु ने कहा– महाराज मैं मूर्ख पुत्र ले कर क्या करूँगा। मुझे सर्वज्ञ अल्पायु पुत्र ही दे दीजिये। भगवान् ने कहा तथास्तु। और ~~अन्तर्धान हो गये~~ | भगवान् की कृपा के फलस्वरूप ही वैशाख शुक्ल पञ्चमी तिथि को सती देवी के गर्भ से ~~[illegible]~~ एक शिशु का जन्म हुआ जिसका नाम शिवगुरु ने शङ्कर के प्रसाद रूप में प्राप्त होने के कारण शङ्कर रखा। इस शिशु की प्रतिभा वस्तुतः विलक्षण थी। तीन वर्ष की [illegible] सीख ली थी। पिता की बहुत इच्छा थी कि इसका

बालक चीखने-चिल्लाने लगा । उधर घाट पर मां भी बिलखने लगी । शंकर ने उस मनोवैज्ञानिक क्षण में मां से कहा मां मेरा अन्तकाल आ पहुंचा है, आप मेरी अंतिम इच्छा की पूर्ति कीजिए, मुझे सन्यास की अनुमति दीजिए । विवश मां और कर ही क्या सकती थी । उसने अनिच्छया अनुमति दे ही दी । और देखिए दैव संयोग उधर ज्योंहि मां ने अनुमति दी उधर मगर ने उनका पांव छोड़ा । बालक सन्यासी हो गया । सन्यास लेने के उपरान्त उसने देशाटन आरम्भ किया और घूमते-घूमते उसकी भेंट कुमारिल भट्ट से हुई जो तुषानल में जल रहा था । उसका आधा शरीर जल चुका था । उसने शंकराचार्य से कहा कि वे माहिष्मती नगरी में मण्डन मिश्र से मिलें । मण्डन मिश्र से मिलने के लिए शंकराचार्य माहिष्मती में गये । वहां मण्डन मिश्र से उनका शास्त्रार्थ हुआ जो अनेक दिन तक चलता रहा । मण्डन मिश्र की पत्नी भारती उस वाग्युद्ध में मध्यस्थ थीं । अन्त में शंकराचार्य ने मण्डनमिश्र को परास्त कर दिया । तब भारती के साथ उनका शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ । भारती अद्वितीया विदुषी थीं । सत्रह दिन तक शास्त्रार्थ चलता रहा । प्रश्नों की विकटता के कारण शंकराचार्य ने एक महीने की मुहलत मांगी । एक महीने पश्चात पुन: शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ । शंकराचार्य विजयी हुए और यहीं से आरम्भ हुआ उनका दिग्विजय । नाना स्थानों पर उनके अनेक पण्डितों से शास्त्रार्थ हुए जहां उन्होंने उन्हें पराजित किया और उन सबको अपने सिद्धान्त में दीक्षित किया । अल्पकाल में ही अद्वैत वेदान्त की पताका सर्वत्र फहराने लगी । शंकराचार्य जी का यश चुहं ओर फैल गया ।

शंकराचार्य ने प्रस्थानत्रयी-उपनिषद, गीता और ब्रह्मसूत्र-- पर भाष्य लिखे जो कि इतने विशद, पाण्डित्य पूर्ण एवं सुबोध थे कि उनके सामने अन्य भाष्य ठिक न सके । अद्वैत वेदान्त के मूल सिद्धान्त हैं --

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापर: ।

ब्रह्म ही सत्य है, जगत असत्य है, जीव ब्रह्म ही है जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है । इन्हीं सिद्धान्तों का प्रतिपादन भगवत्पाद शंकर ने अपने ग्रन्थों में किया है यही उनके मानस मन्थन का नवनीत है । इन्हीं की प्रतिष्ठा ने भारतीय चिन्तनधारा को एक नयी दिशा दी, एक नवीन मोड़ दिया और इसी ने ही भगवत्पाद शंकर को भारतीय दर्शनशास्त्र के गगन में ध्रुव तारक के समान सदा-सदा के लिए प्रतिष्ठित कर दिया ।

दिलीप और सिंह

डा० सत्यव्रत, दिल्ली

दिलीप और सिंह का रोचक संवाद महाकवि कालिदासकृत रघुवंश के द्वितीय सर्ग में पाया जाता है। महाराज दिलीप निःसन्तान हैं। मेरे बाद राज्य का उत्तराधिकारी कौन होगा यह चिन्ता उन्हें खाए डालती है। मेरे बाद पितरों को पिण्डदान तक करने वाला कोई न रहेगा यह सोच-सोच उन्हें मथे डालता है। इतने धार्मिक एवं सदाचारी होते हुए भी वे निःसन्तान क्यों हैं यह जानने के लिए वे अपने कुलपुरोहित वसिष्ठ जी के यहां जाते हैं। वसिष्ठ जी अपनी ध्यान मुद्रा से जान लेते हैं कि एक बार जब राजा इन्द्रासुर युद्ध को आ रहे होते हैं तो अपनी पत्नी सुदक्षिणा की मीठी याद में खो जाने के कारण वे कल्पवृक्ष के नीचे खड़ी कामधेनु को देख नहीं पाते, और प्रदक्षिणा भी नहीं कर पाते जिस पर वे शाप दे देती है कि चूंकि तुम मेरा अपमान कर रहे हो इसलिए मेरी सन्तान की अराधना किए बिना तुम्हारे सन्तान न होगी। सन्तान न होने का यह कारण बतला कर ऋषि महाराज को अपने आश्रम में रहने वाली कामधेनु की पुत्री नन्दिनी गाय की सेवा करने को कहते हैं। राजा दिन रात छाया की तरह उसकी सेवा करते हैं। एक दिन जब वे नन्दिनी के साथ वन में विचर रहे होते हैं तो आसपास के प्रदेश की रमणीयता में खो जाते हैं इतने में एक आर्त नाम उन्हें सुनाई देता है और वे क्या देखते हैं कि एक सिंह बेचारी गाय पर चढ़ा बैठा है। और गाय कातर नेत्रों से राजा की ओर देख रही है। राजा तरकश से तीर निकालने को होते हैं पर उन का हाथ वहीं चिपक जाता है। वह अपने पर झुंझला उठते हैं। अपनी इस विचित्र स्थिति पर वे विस्मित हो उठते हैं पर इससे भी अधिक विस्मय उन्हें तब होता है जबकि सिंह मनुष्य की बोली में बोल उठता है--

अलं महीपाल। तव श्रमेण
प्रयुक्तमप्यस्त्रमितो वृथा स्यात्।
न पादपोन्मूलन शक्ति रंहः
शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य॥

महाराज आप क्यों यहां व्यर्थ में परिश्रम कर रहे हैं यदि आप अस्त्र चलाएंगे भी तो भी उसका कोई प्रभाव न होगा। वायु का पर्वतों को उखाड़ डालने वाला वेग भी चट्टानों के आगे नाकाम हो जाता है। अपना परिचय देते हुए सिंह कहता है कि मैं शिवजी का सेवक कुम्भोद हूं। शिवजी मुझ पर पांव रख कर ही नन्दी बैल पर चढ़ा करते हैं। अब

च यह सामने जो देवदारु वृक्ष आप देख रहे हैं इसे शिव जी ने पुत्र बनाया हुआ है। पार्वती जी अपने हाथों से इसे सींचती हैं। एक बार एक जंगली हाथी से इसकी छाल छिल गई। तब से शिवजी ने जंगली जानवरों को डराने के लिए शेर बना कर मुझे इसकी रक्षा के लिए नियुक्त कर दिया और जो जानवर मेरे पास आजाए उससे मैं पेट भरूं यह विधान भी कर दिया। सो

तस्यालमेषा क्षुधितस्यतृप्त्यैं प्रदिष्ट काला परमेश्वरेण
उपस्थिता शोणितपारणा मे सुरद्विषश्चान्द्रमसी सुधेव ॥

परमात्मा ने ही इसे मेरे पास भेजा है। यह मुझे भूखे को तृप्ति के लिए पर्याप्त है।

यह कह कर सिंह राजा को सलाह देता है कि :-

स त्वं निवर्तस्व विहाय लज्जां
गुरोर्भवान् दर्शितशिष्यभक्तिः
शस्त्रेण रक्ष्यं यदशक्यरक्षं
न तद्यशः शस्त्रभृतां क्षिणोति ॥

तुम लज्जा छोड़ कर लौट जाओ। गुरु के प्रति शिष्य की-- भक्ति आपने दिखला ही दी। जिस की रक्षा शस्त्र से नहीं हो सकती उससे शस्त्रधारियों का यश नष्ट नहीं होता।

सिंह के इस वचन को सुन कर राजा चुप न रह सका एक ओर तो वह चराचर जगत् के अधिपति। शिव जी के विधान का उल्लंघन न कर सकता था और दूसरी ओर अपनी आंखों के सामने ऋषि के गोधन को मरते हुए न देख सकता था। आखिर इस द्वन्द्व से बचने का उसने उपाय ढूंढ ही तो निकाला--

स त्वं मदीयेन शरीरवृ
देहेन निर्वर्तयितुं प्रसीद।
दिनावसानोत्सुक बालवत्सा
विसृज्यतां धेनुरियंमहर्षेः ॥

(हे सिंह) तू मेरे शरीर से अपने शरीर की भूख मिटा पर ऋषि की इस गाय को छोड़ दे। सांझ के समय इस का बछड़ा इसकी राह देख रहा होगा।

राजा के इस विचित्र अप्रस्ताव पर सिंह विहंस दिया और कहने लगा :-

एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं
नवं वयः कान्तमिदं नपुश्च।
अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्
विचारमूढः प्रतिभासि त्वमे ॥

राजा तुमने अपना विवेक खो दिया है क्या ? तुम संसार के एकच्छत्र सम्राट हो । तुम अपनी तरुणावस्था का और सुन्दर शरीर की ओर तो देखो । भला गाय जैसी तुच्छ सी चीज़ के लिए इतना कुछ छोड़ना ठीक होगा ?

अथ च गाय के मर जाने के कारण गुरु के कोप से डरते हो ? यह भी ठीक नहीं । पर्याप्त दूध देने वाली और करोड़ों गाएं देकर तुम उनका क्रोध दूर कर सकते हो । इसलिए :-

तद्रक्ष कल्याणपरम्पराणां
भोक्तारमूर्जस्वलमात्मदेहम् ।
महीतलस्पर्शनमात्रभिन्न-
मृद्धं हि राज्यं पदमैन्द्रमाहुः ॥

कल्याण परम्पराओं का उपभोग करने वाले, अपने इस शरीर की रक्षा करो । राज्य तो इन्द्र का आसन कहा गया है । केवल उससे इसमें इतना ही अन्तर है कि इसका भूलोक स्पर्श से होता है ।

इस पर राजा जो उत्तर देता है वह स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य है । वह कहता है---

क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः
क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः ।
राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः
प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा ॥

लोकलोकान्तरों में क्षतविक्षत होने से जो बचाए क्षत्रिय शब्द का यह अर्थ जगत में प्रसिद्ध है । जिस का आचरण इस अथ के विपरीत है उसे राज्य से क्या ? और लोकापवाद से कलंकित प्राणों से भी क्या ?

सो मेरे लिए यह उचित ही है कि मैं अपना शरीर दे कर भी इसे छुड़ाऊं, क्योंकि तभी तुम्हारा भोजन भी सम्पन्न हो सकेगा और ऋषि की गाय की रक्षा भी । यदि किसी कारणवश मुझे वध के अयोग्य भी समझते हो तो भी-- मेरे यश रूपी शरीर पर दया करो । यह आधिक शरीर तो नष्ट होना है । इसकी क्या चिन्ता ? अथ च कहते हैं कि बात चीत हुई कि सम्बन्ध हो गया । वह सम्बन्ध हमारा हो चुका है । अब मैं तुम्हारा सम्बन्धी हूं । हे मृगराज । मुझ सम्बन्धी की प्रार्थना को ठुकराओ नहीं । गाय के बदले में मैं अपने आप को अर्पित करता हूं ।

राजा के इतना कहने पर सिंह मान गया और तभी राजा की बाहें भी छूट गई । उसने शस्त्र रख दिए और मांस के लोथड़े की तरह अपने

शरीर को अर्पित कर दिया । उस भयंकर क्षण में--

तस्मिन् क्षणे पालयितुः प्रजाना-
मुत्पश्यतः सिंहनिपातमुग्रम् ।
अ स्वस्योपरिपुष्पवृष्टिः
अपात विद्याधरहस्तमुक्ता ॥

जब कि राजा मुंह नीचा किए सोच ही रहा था कि अभी सिंह उग्ररूप से मुझ पर टूट पड़ेगा, विद्याधरों के हाथ से उस पर पुष्प वृष्टि होने लगी । उस समय राजा के कान में अमृत तुल्य ये वचन भी पड़े `बेटा उठा`। इस पर वह राजा उठ खड़ा हुआ और उसने अपने सामने गाए को ही पाया, सिंह को नहीं । राजा को जब हैरानी हुई तो गाय ने कहा:--

माया मयोदाकापरोक्षितो सि ।

मैंने अपने माया रूप से तुम्हारी परीक्षा ली । तुम सफल हुए बेटा । मैं तुम पर प्रसन्न हूं । गाए राजा से दोने में दूध पीने के लिए कहती है । राजा आश्रम में आकर ऋषि की अनुज्ञा पाकर दूध पीता है । उसका मनोरथ सिद्ध हो जाता है और वह राजधानी को लौट जाता है॥

प्राचीन संस्कृत साहित्य

महाभारत

डा० सत्यव्रत

महाभारत अपने विषय में ही यह उक्ति पाई जाती है —

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्॥

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के बारे में जो यहाँ है वह अन्यत्र भी है, जो यहाँ नहीं है वह अन्यत्र भी नहीं है।

महाभारत भारतीय जनजीवन का विश्वकोष है, भारतीय संस्कृति का उत्स है। इसी कारण इसे भारतसंहिता अथवा पञ्चम वेद भी कहा जाता है। अन्य चार वेदों को पढ़ने या सुनने की किसी को अनुमति हो या न हो पर महाभारत को पढ़ने-सुनने की सबको अनुमति है जब कि स्थान में पवित्रता में, यह उन वेदों से किसी प्रकार भी कम नहीं। महाभारत में पाण्डवों और कौरवों की सुप्रसिद्ध कथा का वर्णन है। महाभारत के आदि में एक श्लोक आता है जिसमें कहा गया है कि नारायण, नर एवं देवी सरस्वती को नमस्कार कर महाभारत का पाठ करना चाहिये —

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत्॥

महाभारत का महाभारत नाम क्यों पड़ा इसके विषय में महाभारत का स्वयं का कहना है — 'महत्त्वाद् भारवत्त्वाच्च महाभारतमुच्यते'। महान् होने के कारण एवं भारयुक्त अर्थात् सारयुक्त होने के कारण इसे महाभारत कहा जाता है।

महाभारत का आरम्भ कुलपति शौनक के द्वादशवार्षिक सत्र में लोमहर्षण के पुत्र सूत उग्रश्रवा के आगमन से होता है। उस सत्र में उपस्थित ऋषि विचित्र-विचित्र कथाओं को सुनने की उत्सुकता से उसे घेर लेते हैं। सूत उन्हें बताते हैं कि जनमेजय के सर्पसत्र के अवसर पर वैशम्पायन ने द्वैपायन प्रोक्त पुण्यदायिनी नाना कथाएँ सुनाई थीं —

कृष्णद्वैपायनप्रोक्ताः सुपुण्या विविधाः कथाः।
कथिताश्चापि विधिवद्या वैशम्पायनेन वै॥

ऋषि उनसे कहते हैं कि जिस प्रकार का वैशम्पायन ने प्रवचन किया और सुन कर देवताओं और ऋषियों ने जिसकी पूजा की उस [illegible] पद और पर्वों वाले सूक्ष्मार्थ-न्याययुक्त वेदार्थों से अलङ्कृत भारत नामक इतिहास की पुण्य अभिलाषा करने वाली, पाप और भय

धारण करने वाली संहिता को हम सुनना चाहते हैं —

द्वैपायनेन यत्प्रोक्तं पुराणं परमर्षिणा।
सुरैर्ब्रह्मर्षिभिश्चैव श्रुत्वा यदभिपूजितम्॥
तस्याख्यानवरिष्ठस्य विचित्रपदपर्वणः।
सूक्ष्मार्थन्याययुक्तस्य वेदार्थैर्भूषितस्य च।
भारतस्येतिहासस्य पुण्यां ग्रन्थार्थसंयुताम्।
संहितां श्रोतुमिच्छामो धर्म्यां पापभयापहाम्॥

सूत ऋषियों की प्रार्थना पर भारत संहिता उन्हें सुनाने लगते हैं। वे कहते हैं कि यह एक महान् ज्ञान है जो तीन लोकों में प्रतिष्ठित है। ब्राह्मण इसे विस्तार और संक्षेप के द्वारा धारण करते हैं —

इदं तु त्रिषु लोकेषु महज्ज्ञानं प्रतिष्ठितम्।
विस्तरैश्च समासैश्च धार्यते यद् द्विजातिभिः॥

वे पुनः कहते हैं —

इष्टं हि विदुषां लोके समासव्यासधारणम्।

कि संसार में विद्वानों को संक्षेप और विस्तार दोनों ही अभीष्ट हैं। इसीलिये कई ब्राह्मण भारत का प्रारम्भ मनु की कथा से आरम्भ करते हैं कई आस्तीक से और कई उपरिचर से —

मन्वादि भारतं केचिदास्तीकादि तथापरे।
तथोपरिचराद्यन्ये विप्राः सम्यगधीयते॥

महर्षि व्यास ने तपस्या और ब्रह्मचर्य के द्वारा वेदों का विस्तार करके पुण्य इतिहास की रचना की थी जो उपाख्यानों के बिना चौबीस हजार श्लोकों की थी।

तपसा ब्रह्मचर्येण व्यस्य वेदं सनातनम्।
इतिहासमिमं चक्रे पुण्यं सत्यवतीसुतः॥
चतुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम्।

उपाख्यानों के बिना इसे भारत कहकर पुकारते हैं

उपाख्यानैर्विना तावद् भारतं प्रोच्यते बुधैः।

महाभारत में कहा गया है कि तीन वर्ष निरन्तर परिश्रम कर कृष्णद्वैपायन मुनि ने महाभारत नामक अद्भुत आख्यान की रचना की थी —

त्रिभिर्वर्षैः सदोत्थायी कृष्णद्वैपायनो मुनिः।
महाभारतमाख्यानं कृतवानिदमुत्तमम्॥

महाभारत की रचना कर महर्षि वेदव्यास ने इसे अपने पुत्र शुक को सुनाया तदनन्तर अपने अनुरूप अन्य शिष्यों को इसे बताया —

इदं द्वैपायनः पूर्वं पुत्रमध्यापयच्छुकम्।
ततोऽन्येभ्योऽनुरूपेभ्यः शिष्येभ्यः प्रददौ प्रभुः॥

उन अनुरूप शिष्यों में ही वैशम्पायन भी थे। इस क्रम से महाभारत के सुनाने का क्रम इस प्रकार हुआ — महर्षि वेदव्यास ने इसे वैशम्पायन को सुनाया, वैशम्पायन ने

नाश करने वाली संहिता को हम सुनना चाहते हैं —

द्वैपायनेन यत्प्रोक्तं पुराणं परमर्षिणा।
सुरैर्ब्रह्मर्षिभिश्चैव श्रुत्वा यदभिपूजितम्॥
तस्याख्यानवरिष्ठस्य विचित्रपदपर्वणः।
सूक्ष्मार्थन्याययुक्तस्य वेदार्थैर्भूषितस्य च॥
भारतस्येतिहासस्य पुण्यां ग्रन्थार्थसंयुताम्।
संहितां श्रोतुमिच्छामो धर्म्यां पापभयापहाम्॥

सूत ऋषियों की प्रार्थना स्वीकार कर भारतसंहिता उन्हें सुनाने लगते हैं। वे कहते हैं कि यह एक महान ज्ञान है जो तीनों लोकों में प्रतिष्ठित है। ब्राह्मण इसे विस्तार और संक्षेप के द्वारा धारण करते हैं —

इदं तु त्रिषु लोकेषु महज्ज्ञानं प्रतिष्ठितम्।
विस्तरैश्च समासैश्च धार्यते यद् द्विजातिभिः॥

वे पुनः कहते हैं —

इष्टं हि विदुषां लोके समासव्यासधारणम्।

कि संसार में विद्वानों को संक्षेप और विस्तार दोनों ही अभीष्ट हैं। इसीलिये कई ब्राह्मण भारत का प्रारम्भ मनु से, कुछ आस्तीक से और कई उपरिचर से करते हैं —

मन्वादि भारतं केचिदास्तीकादि तथापरे।
तथोपरिचराद्यन्ये विप्राः सम्यगधीयते॥

महर्षि व्यास ने तपस्या और ब्रह्मचर्य के द्वारा वेदों का विस्तार कर इस पुण्य इतिहास की रचना की थी [illegible] चौबीस हज़ार श्लोक थे।

तपसा ब्रह्मचर्येण व्यस्य वेदं सनातनम्।
इतिहासमिमं चक्रे पुण्यं सत्यवतीसुतः॥
चतुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम्।

उपाख्यानों के बिना इसे भारत कहा जाता है —

उपाख्यानैर्विना तावद् भारतं प्रोच्यते बुधैः।

महाभारत में कहा गया है कि तीन वर्ष निरन्तर परिश्रम कर कृष्णद्वैपायन मुनि ने महाभारत नामक अद्भुत आख्यान की रचना की थी —

त्रिभिर्वर्षैः सदोत्थायी कृष्णद्वैपायनो मुनिः।
महाभारतमाख्यानं कृतवानिदमद्भुतम्॥

महाभारत की रचना कर महर्षि वेदव्यास ने इसे अपने पुत्र शुक को सुनाया तदनन्तर अपने अनुरूप अन्य शिष्यों को इसे बताया —

इदं द्वैपायनः पूर्वं पुत्रमध्यापयच्छुकम्।
ततोऽन्येभ्योऽनुरूपेभ्यः शिष्येभ्यः प्रददौ प्रभुः॥

उन अनुरूप शिष्यों में ही वैशम्पायन भी थे। इन्हीं से महाभारत के [illegible] इस प्रकार हुआ — महर्षि वेदव्यास ने इसे वैशम्पायन को, अनन्तर वैशम्पायन ने

उपलब्ध होता है। सांख्य का शान्तिपर्व के अध्याय ३०३ में, योग का अध्याय ३१६ में और वेदान्त का अध्याय २३२ में। अध्याय ३४९ में एक ही श्लोक में अनेक मतों का उल्लेख है —

सांख्यं योगः पाञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा।
ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नानामतानि वै॥

दर्शनों के समन्वय का प्रयास भी महाभारत में किया गया है। शान्तिपर्व अध्याय २०६ में कहा है कि सांख्यवेत्ता प्रकृति को जगत् का कारण मान कर स्थूल सूक्ष्म के गुण से वियोग करते हुए समस्त प्रपञ्च को चिदात्मा में लय करके साक्षात्कार का अनुभव प्राप्त करते हैं। इन कथनों के द्वारा महाभारतकार ने सांख्य और योग की परिभाषाओं को एक करने का प्रयत्न किया है। इसी प्रकार अध्याय ३०३ में सांख्यों के महत् और योग के महान् का ब्रह्मा अथवा विरञ्चि या हिरण्यगर्भ से मेल मिलाया गया है —

महानिति च योगेषु विरिञ्चिरिति चाप्यजः।
सांख्ये च पठ्यते योगे नामभिर्बहुधात्मकः॥

महाभारत मानो गागर में सागर है भारतीय जनजीवन की आशा को संजोता है। महाभारतकार ने ठीक ही कहा है कि जैसे दही में मक्खन, मनुष्यों में ब्राह्मण, वेदों में आरण्यक, औषधों में अमृत, जलाशयों में समुद्र और चतुष्पदों में गौ श्रेष्ठ है उसी प्रकार इतिहासों में यह भारत श्रेष्ठ है।

उपाख्यानों के साथ यह महाभारत कहा जाता है। इन ~~महाभारत के साथ~~ अनेकानेक उपाख्यानों में कुछेक ऐतिहासिक प्रसिद्ध ~~आख्यान~~ हैं — नलोपाख्यान, मत्स्योपाख्यान जो कि ~~शत~~ किञ्चिद्भिन्न रूप में शतपथ ब्राह्मण में भी पाया जाता है, रामोपाख्यान जिसमें संक्षेप में रामायण की ही कथा वर्णित है, ऋष्यशृङ्गोपाख्यान जो कि रामायण, पद्मपुराण, स्कन्दपुराण एवं —— कतिपय अन्य पुराणों में उपलब्ध होता है, शिवि-उपाख्यान जिसका ~~[illegible]~~ बौद्ध साहित्य से ~~का~~ अति निकट प्रतीत होता है और जो पालि साहित्य में प्रसिद्ध है।

महाभारत के सर्वाधिक प्रसिद्ध टीकाकार हैं नीलकण्ठ जोकि महाराष्ट्र में गोदावरी से पश्चिम की ओर कूर्पर नामक स्थान के रहने वाले थे। उनसे भी पुराने थे अर्जुन मिश्र। इन दोनों से पुराने थे सर्वज्ञनारायण जिनकी टीका का बहुत बड़ा भाग आज भी उपलब्ध है।

पाठ भेद का कोई अन्त नहीं। अभी गत वर्ष ही भाण्डारकर प्राच्यशोध संस्थान, पूना के तत्त्वावधान में चिरकाल से प्रारब्ध नाना देशी विदेशी विद्वानों के साहाय्य से सम्पन्न महाभारत के आलोचनात्मक संस्करण का युगान्तरकारी कार्य समाप्त हुआ है।

यूरोपीय विद्वानों के अनुसार महाभारत का वर्तमान स्वरूप ईसवी ४०० से पूर्व निर्धारित हो चुका था। ६०० ईसवी के कम्बोडिया के शिलालेख के आधार पर कहा जा सकता है कि तब महाभारत सुदूर दक्षिण पूर्व एशिया तक पहुंच चुका था। जावा की भाषा में महाभारत का अनुवाद उपलब्ध है। यह 11 शताब्दि ईसा पश्चात का है। ४४२ ई॰ के एक गुप्तकालीन शिलालेख में महाभारत का शतसाहस्री संहिता के रूप में उल्लेख है।

महाभारत एक ओर भारतीय जन जीवन का प्रतिबिम्ब है तो दूसरी ओर चिन्तन धारा का प्रतिनिधि है। न केवल भगवद्गीता ही अपितु समूचे ग्रन्थ में नाना दार्शनिक विचार धाराओं की गहरी रेखाएं खिंची पड़ी हैं। साङ्ख्य, योग वेदान्त सभी दर्शनों का प्रतिपादन इसमें उपलब्ध होता है।

नारद

-.-.-.-.-

डा० सत्यव्रत

भारतीय पुराण वाङ्मय में देवर्षि नारद की स्थान-स्थान पर चर्चा है। वीणा हाथ में लिए ये जहां देखिए तहां प्रकट होते हुए पाये जाते हैं। इन्हें कलह प्रिय है। इसीलिए इनके लिए कलिप्रिय विशेषण का प्रयोग मिलता है। इनकी कलह-प्रियता इतनी विख्यात हो चुकी है कि इनके नाम को मुहावरे के रूप में भी प्रयोग किया जाने लगा है। कहीं कलहरसिक किसी व्यक्ति को हम आता देखते हैं तो हमारे मुंह से अनायास ही निकल जाता है -- देखिए नारद मुनि चले आ रहे हैं।

नारद शब्द की कम से कम चार व्युत्पत्तियां प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में उपलब्ध होती हैं। पहिली है नरस्य धर्मो नारं हि तद्ददातीति नारदः-नार का अर्थ है नर का धर्म, जो नार को दे वह हुआ नारद। दूसरी है 'नारं परमात्मविषयं ज्ञानं ददातीति नारदः' नार का अर्थ है परमात्म-विषयक ज्ञान। नारद का अर्थ हुआ जो उस परमात्म-विषयक ज्ञान को दे। तीसरी है नारं नरसमूहं द्यति खण्डयति कलहेनेति नारदः। नार का अर्थ है नरसमुदाय। जो उस नर समुदाय को कलह के द्वारा छिन्न भिन्न कर दे वह हुआ नारद। चौथी है नारं जलं ददाति पितृभ्य इति नारदः। नार का अर्थ है जल। प्राचीन उक्ति भी है -- आपो नारा इति प्रोक्ताः। जो पितरों को जल देता है वह है नारद। ये चारों की चारों व्युत्पत्तियां नारद के भिन्न भिन्न क्रियाकलाप पर प्रकाश डालती हैं।

देवर्षि नारद को वीणा का आविष्कारक भी कहा जाता है। उन्होंने ही सर्वप्रथम इस अद्भुत वाद्ययन्त्र का निर्माण किया। वीणावादन में उन्हें सिद्धहस्त बताया जाता है। उनकी तन्त्री के मधुर स्वर देव और दानव दोनों को समान रूप से मोह लिया करते थे।

देवर्षि नारद के नाम पर पच्चीस सहस्र श्लोकों का एक उपपुराण भी है और एक स्मृति भी। वैसे पुराणों में नारद से सम्बद्ध अनेक उपाख्यान भरे पड़े हैं। वे ब्रह्म के दश मानस पुत्रों में से एक हैं। उनका जन्म ब्रह्म के ऊरु से हुआ था। वे सदैव त्रिलोकी में विचरते ही रहते हैं। उनका कोई निश्चित स्थान नहीं है। श्रीमद्भागवतपुराण एवं

विष्णुपुराण में दक्षप्रजापति का शाप इसमें कारण बताया गया है । उनमें कहा है कि एक बार दक्ष प्रजापति ने विष्णुमाया से शक्ति बढ़ जाने के पर पांचजनी नामक स्त्री से दस सहस्र पुत्र उत्पन्न किये और उन्हें प्रजा उत्पन्न करने को कहा । वे पश्चिम दिशा में नारायण सर पर आये । वहां नारद जी ने उन्हें सन्यास धर्म का उपदेश दे दिया जिसके वशीभूत होकर उन्होंने प्रजा उत्पन्न करने का निश्चय त्याग दिया । इस पर दक्षप्रजापति ने पुन: सहस्रों पुत्रों की सृष्टि की और पूर्ववत् उन्हें सृष्टि उत्पन्न करने का आदेश दिया । वे भी पूर्ववत् नारायण सर पर गये । वहां नारद जी उन्हें भी मिल गये और उन्हें भी पूर्ववत् सन्यास धर्म की ओर उन्मुख कर दिया । जब दक्ष प्रजापति को इसका पता चला तो वे अत्यन्त क्रुद्ध हुए और उन्होंने नारद को शाप दिया कि चूंकि तूने मेरी सन्तान का विनाश किया है इसलिए सम्पूर्ण लोकों में विचरते हुए भी तेरे लिए ठहरने के लिए कोई निश्चित स्थान न होगा --

तन्तुकृन्तन यन्नस्त्वमभद्रमचर: पुन: ।
तस्माल्लोकेषु ते मूढ न भवेद्भ्रमत: पदम् ।।

और उसी दिन से नारद जी त्रिलोकी में विचर रहे हैं ।

.. ..

अर्वाचीन संस्कृत नाटकों में राष्ट्रीय भावना

डा० उषा सत्यव्रत

प्राचीन संस्कृत की उक्ति है -- "जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी" जननी और जन्मभूमि स्वर्ग से भी बढ़ कर हैं । जिस देश में मनुष्य जन्म लेता है, जिस मिट्टी में वह खेलता है उससे उसका प्रेम स्वाभाविक ही है । वह अपने देश को समस्त देशों से श्रेष्ठ मानता है । अपने इतिहास, सभ्यता और संस्कृति पर उसे गर्व होता है । अपने राष्ट्र में वह अपनी आत्मा का साक्षात्कार करता है और इससे उसे अपार आनन्द का अनुभव होता है । ~~प्रामिक रूप से यही स्थिति है पर कहीं-कहीं स्थिति इससे प्रतिकूल भी है । वहां राष्ट्रीय भावना का या तो सर्वथा अभाव है या वह इतनी प्रबल नहीं होती~~ । संक्षेप में स्वराष्ट्र के प्रति प्रेम, अभिमान, अनुराग प्रकृति है और इनका अभाव विकृति । इस प्रकृति के दर्शन संस्कृत साहित्य में पदे पदे होते हैं । संस्कृत साहित्यकार अपने राष्ट्र की सुषमा और गरिमा पर मुग्ध होकर कह उठता है कि वे व्यक्ति सचमुच धन्य हैं जिन्होंने भारतभूमि पर जन्म लिया है । इसमें स्वर्ग और अपवर्ग दोनों सुलभ हैं । देवता भी इस भूमि पर जन्म लेने की कामना रखते हैं --

गायन्ति देवा: किल गीतकानि
धन्यास्तु ये भारतभूमिभागे
स्वर्गापवर्गास्पद च हेतुभूते
भवन्ति भूय: पुरुषा: सुरत्वात् ।।

न केवल पुरातन संस्कृत साहित्य में ही अपितु आधुनिक संस्कृत साहित्य में भी स्वराष्ट्र प्रेम की यह दीपशिखा जलती है और पाठकों के हृदय को आलोकित करती है । आधुनिक समय में रचित संस्कृत साहित्य अति विशाल है, अति व्यापक है । उसकी एक विधा-- नाटकों -- का ही राष्ट्रीय भावना की दृष्टि से अनुशीलन यहां पर्याप्त होगा ।

एक मूर्धन्य अर्वाचीन संस्कृत नाटककार महामहोपाध्याय हरिदास सिद्धान्तवागीश तो स्वराष्ट्र प्रेम में इतने सराबोर हैं कि उन्हें अपने राष्ट्र में समस्त भूमण्डल के दर्शन हो जाते हैं । अपने नाटक बंगीयप्रतापम् में वे कहते हैं --

विद्याबुद्धिसमृद्धिसिद्धिविषयेष्वाद्यो जगच्छिक्षक:
देशोऽसावतिविस्तृतो बहुजन: शूरोऽपि दक्षोऽपि च
भाषाधर्मपरिच्छदा बहुविधा भिन्नाश्च धीवृत्तय:
मन्ये भारतमेकमेव तदिदं पृथ्वीं द्वितीयामहम् ।।

"मैं समझता हूँ यह भारत देश एक अन्य पृथ्वी लोक ही है । सबसे पहले इसी ने विद्या, बुद्धि, सिद्धि और समृद्धि के बारे में संसार को शिक्षा दी थी । यह देश शूर है, निपुण है, इसकी जनसंख्या बहुत अधिक है, यह अति विशाल है । नाना भाषाएं, नाना धर्म, नाना मनोवृत्तियां इसमें पाई जाती हैं ।" इसी नानात्व का वर्णन नाटककार ने अपने एक अन्य नाटक वीरप्रतापम् में भी किया है । वहां भी कवि ने शब्दान्तर में इसी आशय को अभिव्यक्त किया है --

नानाजातिवचोवर्णधर्मवेशास्पदं बृहत् ।
एकं हि भारतं मन्ये द्वितीयां पृथिवीमिव ।।

जिस देश में इतनी विविधता हो उसमें विघटनात्मक तत्त्व भी विद्यमान रहते हैं । उन तत्त्वों पर वश पाना आवश्यक होता है । समस्त प्रकार की विविधता होते हुए भी देश की अखण्डता तदवस्थ रहे यह चिन्ता हर देशभक्त को रहती है । महामहोपाध्याय हरिदास सिद्धान्तवागीश को भी यही चिन्ता है । इसीलिये वे अपने नाटक शिवाजीचरितम् में कहते हैं -- एकताशक्तिर्हि सर्वाभिमानिनी । एकता शक्ति सब से बढ़कर है । इसी नाटक में अपने पात्रों के माध्यम से वे उन्होंने कहलवाया है

भास्कर: -- वयं च भिन्नवर्णा अपि तिलतण्डुलवदेव घटमिष्याम: संसृष्टिम् ।

चन्द्र: -- तथा मिलिष्यामो यथा नीरक्षीरवदेवास्माकं न शक्यं पार्थक्यं परिज्ञातुं केनापि ।

इस अखण्ड भारत में भारतीय संस्कृति और संस्कृतभारती पुन: पनपे यह कवि की हार्दिक अभिलाषा है । वे कहते हैं --

संस्कृत भारती भारतसंस्कृतिरुदयतु पुनरपि भारतवर्षे ।
भवने भवने वदने वदने खेलतु संस्कृतभाषा ।।

अपनी भाषा और अपनी संस्कृति के प्रति कितना मोह है !

भारतविजय नाटक में महामहोपाध्याय मथुराप्रसाद दीक्षित ने अंग्रेज़ों के आगमन से लेकर स्वतन्त्रता प्राप्ति तक का भारत का सारा इतिहास संक्षेप में प्रस्तुत किया है। उसमें भारतमाता को एक पात्र के रूप में उपस्थित किया गया है। उसकी रक्षा के लिये भारत के वीरों ने क्या-क्या बलिदान किये उसका इसमें सजीव चित्रण है। जब स्वतन्त्रता उपलब्ध हो जाती है तो महात्मा गान्धी आदि सभी राष्ट्रीय नेता भक्तिविह्वल हो उसकी इन शब्दों में स्तुति करते हैं --

वन्दे भारतमरिकुलभयदां रिपुगण कमलविकहिंसनहिमदाम् ।
सुजलां सुफलां सुनयसमृद्धां विद्वद्वृन्दनिषेवितसुपदाम् ।।
सदयप्रियां बहुरवनिनिलयां मुक्तामणिगणशोभितहृदयाम् ।
वन्दे मातरमरिकुलभयदां रिपुगणकमलविहिंसनहिमदाम् ।।
अमलाममलामतुलितविभवाम् ऋतुकुलयुगपद्विलसित सुपदाम् ।
सुसुतां सुखदां सबलां सुरसां बुधगणबोधितनिगममुनि नदाम् ।।
वन्दे मातरमरिकुलभयदाम् ।

करुणापारिजातम् नाटक में पण्डित सुदर्शन पाठो शर्मा ने अंग्रेज़ों के इस कथन को सर्वथा असत्य बताया है कि भारतीय स्वराज्य प्राप्ति के अधिकारी नहीं हैं। अपने एक पात्र प्रमोद के मुख से उन्होंने पण्डित नेहरू के इन वचनों को कहलवाया है कि भारतीय स्वराज्य के संचालन में पूर्णतया समर्थ हैं -- स्वराज्यं चालयितुं दृढं समर्था भारतीया: । न केवल इतना ही, अपने एक अन्य पात्र करुणा के मुख से इन्होंने कहलवाया है कि प्रजा को अपने भाग्य निर्णय का स्वयं अधिकार है -- अवश्यमेव स्वभागधेयानां स्वयं नियामिका भवन्ति प्रजा: । इन पंक्तियों में अपने राष्ट्र की स्वाधीनता के लिये कितना आग्रह है। अभी हाल ही में चीन के भारत पर आक्रमण के बाद लिखे गये डा० वनमाला भवालकर रचित नाटक `पाददण्ड:` में जब नायक भास्कर पंगु होकर रणभूमि से लौटता है तो उसकी बहिन शान्ता उसकी दशा को देख बहुत दु:खी होती है। इस पर वह कहता है -- (बहिन) बहुत दु:ख मत मनाओ। मातृभूमि की रक्षा के लिये वीर युवक प्राण तक गंवाने को भी कुछ नहीं समझते चरण गंवाने का तो कहना ही क्या -- मातृभूमे रक्षणाय प्राणार्पणमपि न बहुमन्यन्ते वीरयुवका: किं पुनश्चरणदानम् । इसी चीन के आक्रमण के

बाद लिखे गये श्री एस० बी० वेलणकर रचित एक अन्य पद्यमय नाटक 'कैलासकम्प:' में चीनी सेनाओं का वीरतापूर्वक सामना करती हुई भारतीय सेनाओं के शौर्य का वर्णन प्रत्येक भारतीय के हृदय में उत्साह और स्फूर्ति का संचार करता है --

> वीरा भारतमातृरक्षणपरा: संग्रामवागीश्वरा
>
> दैत्यध्वान्त दिवाकरा रिपुयश:श्रीहाररात्रिञ्चरा: ।
>
> नानाविधविविधायुधोत्कटकरा उत्साहशौर्याकिरा:
>
> पादाघातनिनादिताद्रिकुहरा एते रणाग्रेसरा: ।।

अंग्रेज़ों के आने के बाद भारत में सबसे बड़ा स्वाधीनता संग्राम १८५७ में हुआ था जिसमें रानी झाँसी ने अपूर्व देशप्रेम एवं अदम्य उत्साह दिखाया था । उसी के बारे में श्री वेलणकर ने एक अन्य नाटक 'स्वातन्त्र्य लक्ष्मी:' लिखा है । उसमें झाँसी दुर्ग के शत्रुओं के घिर जाने पर जब रानी को आत्म-रक्षार्थ अन्यत्र जाने को विवश होना पड़ता है तो वह अपनी प्रिय सखी चेतना से गले मिल जो शब्द कहती है वे स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य हैं । उसका कहना है कि ~~यदि~~ बुधजन पुनर्जन्म हितकारी ~~नहीं~~ मानते ~~हों और मेरा पुनर्जन्म होना ही हो तो वह भारत में ही हो --~~ हैं पर मन (अपनी) भूमि को शत्रुओं द्वारा पीड़ित देखकर स्वस्थ नहीं है। जनता के प्रेम के कारण मेरा पुनर्जन्म भारतभूमि में ही हो —

> न च यदि बुधास्ते मन्यन्ते पुनर्जननं हितं
>
> न तु मम मन: स्वस्थं भूमिं विलोक्य परार्दिताम् ।
>
> भरतभुवि मे लोकप्रेम्णा पुनर्ननु सम्भवो॰
>
> (भवतु (भवत: कन्यात्वेन प्रसीदतु स प्रभु:) ।।

अपने राष्ट्र के प्रति यह प्रेम और यह निष्ठा अपूर्व हैं । अर्वाचीन संस्कृत नाटकों में राष्ट्रीयता का इस प्रकार का स्वर नाना स्थलों पर मुखरित हो उठा है ।

....

सोम

डा० उषा सत्यव्रत

सृष्टि के आदि से ही मानव ने अपने आसपास के पदार्थों की किसी भी प्रकार की विलक्षणता को परिलक्षित कर उनमें देवत्व की परिकल्पना की है । उनकी विलक्षणता उसी देवत्व की देन है यह उसका मत रहा है और जभी से ही उसका यह मत बना तभी से ही उसने इनकी पूजा प्रारम्भ कर दी । सोम मूलत: एक लता थी । उसे पीसकर रस निकाला जाता था । उस रस की विलक्षण शक्ति थी । इन्द्रादि देवता भी उसका सेवन कर विचित्र स्फूर्ति अनुभव करते थे और झूम कर कह उठते थे --'अपाम सोमममृता अभूम' हमने सोम पिया अत: हम अमर हुए । इसकी इस विलक्षण शक्ति के कारण ही वैदिककालीन मानव ने इसे देवत्व के उच्चासन पर प्रतिष्ठित कर दिया।

सोम लता के पेष्य अंश को वेद में अंशु कहा जाता है । जब ये अंशु फूल जाते हैं तो इनमें से स्राव ऐसे टपकता है जैसे गायों के स्तनों में से दूध । डंठल से पृथक् की गई सारी की सारी सोम लता के लिये वेद में अन्धस् शब्द का व्यवहार है । इस लता के लिये यह कहा गया है कि यह स्वर्ग से आई है एवंच श्येन इसे लाया है --
(१) उच्चातिजातमन्धसोदिविषद्भूम्याददे इदं अच्छा (२) रघुः श्येनः पतयदन्धो अच्छा युवा कविर्दीदयद्गोषुगच्छन् ।

~~देवताओं का स्थान भेद से प्रविभाग अथर्व वेद से ही पता चल जाता है । बाद में यास्क ने नैरुक्तों का मत उद्धृत करते हुए इसे स्पष्ट रूप में कहा है -- तिस्र एव~~ सोम एक पृथिवीस्थानीय देवता है । यह वास्तव में एक पार्थिव लता है । इसी पार्थिव लता और इसके द्रव में देवत्व का आरोप ~~मा~~कर इसे देव कहा जाता है । यह एक वैदिक देवता है । केवल वेद में ही इसकी स्तुति में सूक्त उपलब्ध होते हैं । पौराणिक काल के देवता वैदिक काल के देवताओं से भिन्न हैं । उस काल में इसके पूजन का प्रचलन नहीं रहा । स्थिति यहां तक बदली कि अर्वाचीन काल तक आते आते सोमलता का असली स्वरूप तक विस्मृत हो गया । बीच में एक ऐसी स्थिति भी आई कि सोम चन्द्रमा का पर्यायवाची बन गया । सोम के पर्यायवाची शब्द जैसे इन्दु, ओषधीपति

आदि जिनके मूलत: अर्थ थे आह्लादकारी, वनस्पतियों का स्वामी चन्द्रमा के भी पर्यायवाची बन गये। श्री शंकर पाण्डुरंग पण्डित ने रघुवंश में प्रयुक्त ओषधीनाथ शब्द पर एक रोचक टिप्पण लिखा है। उसमें उन्होंने बताया है कि किस प्रकार इन्दु जिसका वेद में नाना स्थलों पर सोम की वृत्ताकार आह्लादक बिन्दुओं के लिये प्रयोग हुआ है, कालान्तर में चन्द्रमा के लिये प्रयुक्त होने लगा। क्योंकि चन्द्रमा भी वृत्ताकार एवं आह्लादक होता है इसलिये मानव के उर्वर मस्तिक ने उसे भी इन्दु रूप में देखा और उसके लिये इन्दु शब्द का प्रयोग प्रारम्भ कर दिया। बस फिर क्या था। सम्बन्ध की कड़ी जुड़ गई। जो शब्द सोम के लिये प्रयुक्त होते थे वही चन्द्रमा के लिये भी प्रयुक्त होने लगे।

सोमयाग वैदिक कर्मकाण्ड का एक प्रमुख अंग है। फलत: सोम ऋग्वेद के प्रमुख देवों में से हैं। नवम मण्डल के सारे के सारे ११४ सूक्त एवंच अन्य मण्डलों के छ: सूक्त इसकी स्तुति में कहे गये हैं। चार या पांच सूक्तों में सोम का अंशत: स्तवन हुआ है। चिन्न इन्द्र, अग्नि, पूषा या रुद्र के साथ देवता युग्मों के रूप में भी इसका स्तवन हुआ है। समस्त रूप में तो सोम का वेद में शतश: उल्लेख है। उल्लेख की दृष्टि से ऋग्वेद के देवताओं में सोम का तीसरा स्थान है। इन्द्र और अग्नि आदि देवताओं की तुलना में सोम का मानवीयकरण (Personification) बहुत कम हुआ है। वैदिक ऋषियों के सामने इसका पार्थिव वनस्पतिरूप सदा उभरा रहता था। इसी के परिणामस्वरूप इसका मानवीय विग्रह एवंच इसके मानवीय कार्यों का उल्लेख वेद में अपेक्षाकृत कहीं कम है। शौर्यादि के जो कार्य सोम के लिये वर्णित किये गये हैं वे प्राय: वही हैं जो सभी दवेताओं में पाये जाते हैं। अन्य देवताओं की भांति ही इसका भी आवाहन किया जाता है जिससे कि यह बर्हि पर आसीन होकर हविपान करें। नवम् मण्डल में जिसके कि सारे के सारे ११४ सूक्त इसी की स्तुति में हैं इसका स्थूल पार्थिव स्वरूप ही वर्णित किया गया है। वहां पाषाणों द्वारा इसके अभिषव का एवंच ऊनी छलनी में छानकर इसका दारु पात्रों में संग्रह का उल्लेख है।

सोमलता, सोमरस एवं सोमदेवता का रंग बभ्रु, अरुण एवंच हरित बताया गया

है । सोम को एक अरुण वनस्पति की टहनी कहा गया है । यह एक ऐसा अंकुर है जिसका दूध अरुण है । सोम का अपना रंग अरुण या हरित है इसलिये सोम खरीदने केलिये दी जाने वाली गाय का रंग भी लाल या भूरा होना चाहिये ऐसा विधान है।

सोम को पत्थर से पीसा जाता है तभी इसका रस निकलता है । पाषाणों को हाथों से पकड़ा जाता है। इसीलिये वेद में कहा है कि हाथों से सोम को पवित्र किया जाता है । हाथों की दसों उंगलियां पत्थर पकड़ने के काम आती हैं । इन्हीं दस उंगलियों को वेद ने आलंकारिक भाषा में दस युवतियां कहा है । वैदिक ऋषि अपने कल्पनालोक में इन दस युवतियों को विवस्वान् की बहनों के या पुत्रियों के रूप में देखता है -- तमीमण्वी: समर्य आ गृभ्णान्ति योषणो दश । स्वसार: पार्ये दिवि । एक अन्य मन्त्र में एक और ही बात कही गई है । वंहा कहा गया है कि सोम सूर्य-दुहिता के द्वारा लाया गया या पीसा गया है -- पुनाति ते परिस्रुतं सोमं सूर्यस्य दुहिता । वारेण शश्वता तना । इसी प्रकार एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि त्रित की युवतियां बभ्रु अर्थात् सोम को इन्दु के द्वारा द्रप्स रूप में पीने के लिये उकसाती हैं -- आदीं त्रितस्य योषणो हरिं हिन्वन्त्यद्रिभि: । इन्दुमिन्द्राय पीतये । पाषाणों को पकड़ने वाली दस उंगलियों का वैदिक कवि दस रश्मियों के रूप में भी वर्णन करता है -- दस रश्मियों ने पाषाणों का नियमन किया है -- ते अद्रयो दशयन्त्रास आशवस्तेषामाधानं पर्येति हर्यतम् । जिस प्रकार अश्वों को जोता जाता है, उन्हें काम पर लगाया जाता है, इसी प्रकार उंगलियों को भी पाषाण पकड़ने के काम में लाया जाता है । यही कारण है कि वैदिक कवि के उर्वर मस्तिष्क ने इन उंगलियों को अश्व जैसा काम करते देख अश्व ही कह डाला । पाषाण को वेद में अद्रि, ग्रावा, अश्व, अरित्र, पर्वत आदि से उल्लिखित किया गया है । ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्ववैदिक काल में पत्थरों से सोम का अभिषव होता था जबकि उत्तरवैदिक काल में उलूखलों से भी अभिषव होने लगा । कर्मकाण्ड के ग्रन्थों में ऐसा ही विधान है ।

सोमरस के दो रूप होते थे -- शुद्ध सोमरस एवं मिश्रित सोमरस । शुद्ध अथवा

अमिश्रित सोमरस जोकि बहुत चमकीला होता था और इसी कारण जिसे शुचि कहा जाता था, वायु और इन्द्र को अर्पण किया जाता था। मिश्रित सोमरस अन्य देवताओं को अर्पण किया जाता था-- दुग्ध मिश्रित मित्र और वरुण को और मधुमिश्रित अश्वियों को । ऋग्वेद में सोमरस के जल और दुग्ध में मिश्रण का अनेक मन्त्रों में उल्लेख है । घृतमिश्रण की भी यत्र तत्र चर्चा है ।

ऋग्वेद के अनुसार सोम का सेवन दिन में तीन बार किया जाता था -- प्रात:सवन, माध्यन्दिन सवन , और सायंसवन । इन्द्र को प्रात: और माध्यन्दिन सवन में एवंच ऋभुओं को सायंसवन में निमन्त्रित किया जाता था ।

सोम में एक प्रकार की भैषज्य की शक्ति भी है । उसके सेवन से नाना रोग दूर हो जाते हैं । यह एक रसायन औषध है । ऋग्वेद के एक मन्त्र में कहा है कि सोम ने अन्धों को चक्षु एवं पंगुओं को गति प्रदान की है । सोम हृदय के समस्त पापों को धोकर अनृत का विनाश एवं सत्य का संवर्धन करता है ।

सोम वाणी को ऐसे ही गति प्रदान करता है जैसे कि पतवार नाव को । इसी कारण इसे वाचोअग्रिय या प्रणेवाचाम् कहा जाता है । चूंकि सोमरस का पान करने के कारण ही इन्द्र अनेक कार्य कर पाते हैं अत: ये कार्य अप्रत्यक्ष रूप से सोम के ही माने जाते हैं । सोम ने ही सूर्य को भासमान बनाया है, उसने ही दिशाओं को जीता है; सोम ही स्वर्ग और पृथिवी को उत्पन्न करता है और उनका स्थापन करता है ।

प्रसंगवश सोम का यदाकदा मरुद्गण के साथ भी ऋग्वेद में वर्णन किया जाता है । वायु सोम को सुख देता है, उसका संरक्षक है । ऋग्वेद के कुछेक मन्त्रों में रहस्यमय ढंग से सोम का वरुण के साथ तादात्म्य स्थापित किया गया है ।

वेद में सोम को `अमर्त्य` अमर कहा है । जो सोमपान करता है उसे अपार शक्ति प्राप्त होती है । सभी देवता इस पर मस्त हैं -- विश्वे देवा अमत्सत । वे

सभी इसका पान करते हैं --पिबन्त्यस्य विश्वे देवासः। यह एक दिव्य पेय है । यह अपने उपासकों को सनातन एवं अखण्डलोक में स्थापित करता है जहां अनन्त प्रकाश है और यज्ञ है, यह उन्हें वहां अमरत्व प्रदान करता है जहां स्वयं सम्राट् वैवस्वत विराजमान है --

यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिंल्लोके स्वर्हितम् ।
तस्मिन्मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षित इन्द्रायेन्दो परिस्रव ।
यत्र राजा वैवस्वतो यत्रावरोधनं दिवः ।
यत्रामूर्यह्वतीरापस्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परिस्रव ।।

.. .. ..

अग्नि

डा० सत्यव्रत

मानव समाज में देवता के रूप में अग्नि की पूजा कब प्रारम्भ हुई होगी इसका निर्णय अति कठिन है । सम्भवत: यह उस समय की देन है जब आदि मानव अपने आस-पास की सभी विलक्षण वस्तुओं को देख चौंक उठता था । ऐसा कोई भी पदार्थ जो उसके मन में भय का संचार कर सकता था या जिसके विषय में उसकी यह धारणा बन जाती थी कि इसका उसके व्यक्तिगत जीवन पर शुभ या अशुभ प्रभाव पड़ सकता है उसकी उपासना का विषय बन जाता था । बादलों का गर्जन, सनसनाती हवा, और धधकती अग्नि की ज्वाला सभी उसके मन में सिहरन पैदा कर जाते थे । वह समझता था कि वह वही नहीं है जो वह देख सुन रहा है, उसके पीछे एक और शक्ति है जिसके कारण ही तत्तत्पदार्थ तत्तत्क्रिया करते हैं । उसे इसी शक्ति का भय था । उस शक्ति के नाना चित्र उसके मानस पटल पर उभरते थे । एक चित्रकार की भांति कल्पनाशक्ति के सहारे वह उन्हें अनेक तरह बनाता, मिटाता और फिर बनाता था । उसकी धारणा थी कि उस शक्ति का भी बहुत कुछ ऐसा ही रूप है जैसाकि उसका अपना हाथ, पाव, आंखें सब कुछ वैसे ही हैं । प्रकृति के भिन्न-भिन्न दृश्य रूपों में उसे इन सबका दर्शन होने लगता था और यहीं से प्रारम्भ होता था आदि युगीन मानव का प्रकृति के भिन्न रूपों के मानवीयकरण का प्रयास ।

अग्नि का भी बहुत कुछ ऐसा ही इतिहास रहा है । कभी यह पार्थिव अग्नि से अतिरिक्त कुछ नहीं था । बाद में इसे देवता मान लिया गया । इसकी पूजा होने लगी । इसका मानवीयकरण (personification) भी हो गया । फिर अनेक कथाएं इसके साथ आ जुड़ीं ।

वैदिक परम्परा के अनुसार अग्नि का जन्म द्यौ: से हुआ । वह द्यौ: का शिशु है तथा असुर के उदर से उसका जन्म हुआ है । एक अन्य मन्त्र में अग्नि को द्यौ: और पृथिवी का पुत्र बताया गया है । अरणियों से अग्नि के जन्म का भी वेद में उल्लेख है । एक अन्य स्थान पर कहा गया है कि इन्द्र ने पाषाणों से अग्नि को उत्पन्न किया ।

वेद में जहां अग्नि को जहां त्रिजन्मा कहा गया है वहां स्पष्ट है कि इसके द्युलोक, अन्तरिक्षलोक और पृथिवीलोक ये तीन स्थान स्वीकार किये गये हैं । जहां इसे द्विजन्मा कहा गया है वहां स्वर्गलोक और पृथिवी लोक ये दो स्थान स्वीकार किये गये हैं ।

नैरुक्तों ने इसका पृथिवी लोक यह एक ही स्थान माना है । यास्क ने उनका मत उद्धृत करते हुए कहा है कि देवता तीन ही प्रकार के हैं -- तिस्त्र एव देवता इति नैरुक्ता: । अग्नि, जिसका स्थान पृथिवी लोक है; इन्द्र या वायु जिसका स्थान अन्तरिक्ष लोक है और सूर्य जिसका स्थान द्युलोक है -- अग्नि: पृथिवीस्थान:, वायुर्वेन्द्रो न्तरिक्षस्थान:, सूर्यो द्युस्थान: । अग्नि शब्द को अनेक प्रकार की व्युत्पत्ति उन्होंने दी है -- अग्नि: कस्मात् ? अग्रणीर्भवति, अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते, अंगं नयति सन्नममान:, अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीवि: त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणि:, इतात्, अक्तात् दग्धाद्वा नीतात् । अग्नि को अग्नि क्यों कहा जाता है ? इसलिए कि वह अग्रणी होता है, यज्ञ में सर्वप्रथम उसका ही प्रणयन होता है अर्थात् अग्रणी शब्द से अग्नि बना है । दूसरी सम्भावना है कि अंगनी शब्द अग्नि से बना है अर्थात् वह इतना प्रधान बन जाता है कि यज्ञ के शेष सब कार्यों को अपना अंग बना लेता है । तीसरी सम्भावना है कि अक्नू से अग्नि बना है, अग्नि का स्वभाव है न क्नोपयति कि वह किसी भी चीज़ में चिकनाहट नहीं पैदा करता, यहां तक कि जिस किसी चीज़, तेल, घी आदि में चिकनाई हो भी उसे भी यह भस्म कर रूक्ष ही बना देता है । चौथी सम्भावना है कि यह चार धातुओं के अवयवों के सम्मिश्रण से बना है । इ धातु का अ इसमें है, अञ्ज् का ग् और नी का नी । तब इसका अर्थ होता है, जो आता है, पदार्थों को स्फुट करता है या जलाता है और हवि को देवताओं तक पहुंचाता है ।

भाषाशास्त्रियों के अनुसार अग्नि शब्द प्रागैतिहासिक काल का है । वैदिक और संस्कृत भाषा के अग्नि, लैटिन के इग्निस, लिथुएनिअन के उग्निस्, रूसी भाषा के ओगोन् आदि में इसके भिन्न-भिन्न रूप मिल जाते हैं ।

वैदिक देवताओं में अग्नि का प्रमुख स्थान है । इन्द्र के बाद सर्वाधिक सूक्त इसकी

स्तुति में हैं । ऋग्वेद में लगभग २०० पूर्ण सूक्त इसके विषय में पाये जाते हैं । इनके अतिरिक्त अन्य देवताओं के साथ भी अनेक सूक्तों में इसका वर्णन है । ऋग्वेद में अग्नि का विग्रह तत्व अभी प्रारम्भिक अवस्था में ही है । अनेक सूक्तों में इसे घृतलोम, ज्वाल-लोम, हरिकेश, हिरण्यश्मश्रु, हिरण्यदन्त आदि कहा गया है । कहीं-कहीं विरोधी उक्तियां भी पाई जाती हैं । जहां एक ओर एक मन्त्र में इसे बिना सिर का अपाद-शीर्षा गुहमान: कहा गया है वहां दूसरी ओर इसे त्रिमूर्धा, तीन सिर वाला, कहा गया है । एक अन्य मन्त्र में इसे सप्तजिह्व -- सात जिह्वाओं वाला कहा है । न केवल यही, इसके अश्व भी सप्तजिह्व कहे गये हैं ।

वेद में अग्नि की उपमा चेतन और अचेतन दोनों ही प्रकार के पदार्थों से की गई है । इसे पीवरस्कन्ध बलीवर्द कहा गया है । अनेक बार इसकी तुलना अश्व से की गई है । कई मन्त्रों में तो इसे स्पष्ट ही अश्व शब्द से उल्लिखित भी किया गया है । अग्नि की ज्वाला का अश्व की पूंछ कह उल्लेख किया गया है । इसे आकाश का वायस भी कहा गया है -- "दिव्यं सुपर्णं वायसं बृहन्तम् " । जल में बसने के कारण एक मन्त्र में इसे जलीय हंस जैसा बताया गया है । अन्यत्र इसे अहिर्धुनि, फुंफकारता हुआ सर्प, कहा गया है -- हिरण्यकेशो रजसो विसारे ऽहिर्धुनिर्वात इव ध्रजीमान् । अनेक बार अग्नि की उपमा परशु अर्थात् कुल्हाड़ी से दी गई है । किंच अग्नि को एक ऐसा रथ भी कहा गया है जो धन लाता है -- रथो न विक्ष्वृंजसान आयुषु व्यानुषग्वार्या देव ऋण्वति ।

अग्नि के प्रकाशमान रूप का भी वेद में रोचक वर्णन है । इसे स्थान स्थान पर, भास्वर, चमकीला, कहा गया है । इसके ~~अपने~~ प्रकाश की तुलना उषा, चन्द्र और सूर्य से की गई है । इसके आते ही अन्धकार दूर भागता है । यह रात की कालिमा के झरोखे में से देखता है -- होता मन्द्रो विशां दमूनास्तिरस्तमो ददृशे राम्याणाम् । अग्नि की लपटें समुद्र की उत्तुंग तरंगों की तरह गरजती हैं -- सिन्धोरिव प्रस्वनितास ऊर्मयो ऽग्नेर्भ्राजन्ते अर्चय: । इन लपटों के द्वारा अग्नि आकाश को छू लेता है -- उपस्पृश दिव्यं सानु स्तूपै: संरश्मिभि: सूर्यस्य ।

अग्नि का मनुष्य जीवन के साथ अति घनिष्ठ सम्बन्ध है । अनेक मन्त्रों में इसे गृहपति कहकर सम्बोधित किया गया है । वेद में अग्नि को हर घर का अतिथि अर्थात् अभ्यर्च्य है

कहा गया है -- स दर्शतश्रीरतिथिर्गृहेगृहे । वह अमूर अर्थात् अमर्त्य है । वह हर घर में है और लोग उसी के हा कारण बस भी पाये हैं -- अतिमतां अवासयो दमूना ।

अग्नि को न केवल सम्बन्धी, मित्र आदि सामान्य शब्दों से ही उल्लिखित किया गया है अपितु उपासकों का भाई पुत्र और भ्राता तक भी कह दिया गया है -- अग्ने भ्रात: सहस्कृत: रोहिदश्व शुचिव्रत । अग्निं मन्ये पितरमग्निमापिमग्निं भ्रातरं सदमित्सखायम् । त्वं पुत्रो भवसि यते विधत् ।

जो मानव का इतना निकट हो उसके लिये यह स्वाभाविक ही है वह उसके कष्ट के समय भी काम आये । अग्नि अपने उपासक का सच्चा हितैषी है । वह उसकी विपत्तियों को दूर करता है, मुक्तिदाता है, शत्रुओं को नष्ट करता है और नाना प्रकार से सुख पहुंचाता है ।

अग्नि को दूत भी कहा गया है । वह हवि देवताओं तक पहुंचाता है और देवताओं का सन्देश मनुष्य तक । सारी यज्ञ प्रक्रिया इसके अधीन होने से वेद में इसे होता, अध्वर्यु और पुरोहितादि शब्दों से भी सम्बोधित किया गया है ।

उत्तर वैदिक काल में भी अग्नि का पर्याप्त उल्लेख मिलता है । रामायण में अग्नि को सर्वसाक्षी कहा गया है --

त्वमग्ने सर्वदेवानां शरीरान्तरगोचर: ।
त्वं साक्षी मम देहस्थस्त्राहि मां देवसत्तम ।।

महाभारत में खाण्डवदाहप्रसंग में अग्नि का उल्लेख है । राजा श्वेतकि सत्र में द्वादश वर्ष तक निरन्तर हविपान करने के कारण अग्नि का बल क्षीण हो गया । तब ब्रह्मा के कहने पर खाण्डवदाह कर उसने उसे पुन: प्राप्त किया । इस कार्य में अर्जुन और श्रीकृष्ण ने उसकी सहायता की थी और इसी साहाय्य प्रदान करने के हेतु ही उन्हें दिव्य अस्त्रों की उपलब्धि हुई थी ।

अग्नि की दो पत्नियों का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है । एक का नाम है अग्नायी और दूसरी का स्वाहा । स्वाहा के स्कन्द, पावक, पवमान और शुचि में चार पुत्र हुए । इनके आगे पैंतालीस पुत्र हुए । इस प्रकार चार पुत्रों और पैंतालीस पौत्रों को मिलाकर अग्निकुल की संख्या उनचास हुई ।

अग्नि के विषय में यह कहानी आती है कि एक बार उसने अपने में प्रक्षिप्त हवि को एक अंश खाने की बजाय पानी में फेंक दिया । उस पानी से तीन देवता प्रकट हुए जिन्हें आप्त्य कहा जाता है । उनके नाम थे एकत, द्वित और त्रित ।

स्कन्दोत्पत्ति विषयक आख्यानों में भी अग्नि का भिन्न-भिन्न प्रकार से उल्लेख है । संस्कृत में अग्नि के अनेक पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग मिलता है । इनमें विशेष उल्लेखनीय हैं -- अब्जहस्त, छागरथ, धूमकेतु, शुचि, तोमरधर, नीति होत्र, कृपीटयोनि शोचि केश और आपित्त । अनादि काल से ही मानव का सम्बन्ध अग्नि से बहुत निकट का रहा है । इसमें क्या आश्चर्य है कि मानव जाति के प्राचीनतम उपलभ्यमान ग्रन्थ ऋग्वेद का प्रारम्भ इसी की स्तुति से हुआ । इसी के स्तवन की इच्छा से ही ऋषि कण्ठ से स्वर प्रस्फुटित हुआ था --

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् होतारं रत्नधातमम् ।

... ...

स्मृतिकार शङ्ख

डा० उषा सत्यव्रत

संस्कृत की एक सुप्रसिद्ध उक्ति है — श्रुतयो विभिन्नाः स्मृतयो विभिन्ना नैको मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्। श्रुतियां एक दूसरे से भिन्न मत का प्रतिपादन करती हैं, स्मृतियों की भी यही स्थिति है, एक भी मुनि ऐसा नहीं है जिसका मत दूसरे से भिन्न न हो। यह उक्ति कितनी सत्य है यह इससे ही स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत वाङ्मय में छोटी बड़ी सब मिलाकर लगभग ३० स्मृतियां हैं। स्मृतियां समाज-व्यवस्था का निरूपण करती हैं। ज्यों ज्यों समाज में परिवर्तन होता जाता है स्मृतिकार नवीन स्मृति की रचना करते जाते हैं। कहा भी है — काले काले नवा स्मृतिः, हर युग की नई स्मृति होती है।

स्मृतिकार के रूप में शङ्ख सुविख्यात हैं। इनकी दो स्मृतियां पाई जाती हैं, एक तो इनके अकेले के नाम पर शङ्खस्मृति और दूसरी इनके और एक अन्य स्मृतिकार लिखित के नाम पर शङ्खलिखितस्मृति। शङ्खस्मृति में १८ अध्याय हैं और ३८३ श्लोक। शङ्खलिखितस्मृति बहुत ही छोटी है, इसमें कुल ३२ श्लोक हैं। शङ्ख और लिखित की स्मृतियों का सार है। इसके प्रथम श्लोक में ही कहा है —

वासुदेवं नमस्कृत्य शङ्खस्य लिखितस्य च।
धर्मशास्त्रं प्रवक्ष्यामि [illegible] धृतं यथा॥

वासुदेव को नमस्कार कर मैं शङ्ख और लिखित के धर्मशास्त्र का प्रवचन करूंगा जो वैसे ही जैसे कि दही में घी रहता है। अर्थात् जैसे दही का सारांश घी निकाल लिया जाता है वैसे ही यह शङ्खलिखित स्मृति भी शङ्ख और लिखित की स्मृतियों का सारांश है। परन्तु शङ्ख की स्मृति पृथक् से उपलब्ध हुई है, लिखित की स्मृति पृथक् से नहीं मिलती। इसलिये यह अनुमान कहां तक सत्य हो सकता है कहा नहीं जा सकता। हां इतना अवश्य है कि अनेक ग्रन्थों में शङ्ख और लिखित का नाम प्रायः साथ साथ उल्लिखित किया गया है। अस्तु। शङ्खस्मृति में प्रथम अध्याय में संक्षेप से चारों वर्णों और उनके कर्तव्यों का उल्लेख है। द्वितीय अध्याय में गर्भाधान से उपनयन तक के संस्कारों का वर्णन है। तृतीय अध्याय में ब्रह्मचारी के गुरुगृह में रहते हुए भिक्षा, स्वाध्याय एवं उसके कर्तव्यों की चर्चा है। चतुर्थ और पञ्चम अध्यायों में विवाह, उसके प्रकार, गृहस्थ के कर्तव्य आदि का उल्लेख है। षष्ठ में वानप्रस्थ, और सप्तम में संन्यास वर्णित है। अष्टम और नवम में स्नान के प्रकार और महत्त्व, दशम में आचमन-विधि, एकादश और द्वादश में पावन वेदमन्त्र पाठ, त्रयोदश में देवताओं और पितरों का तर्पण, चतुर्दश में पितृतर्पण में ब्राह्मण-परीक्षा और श्राद्धभोजन, पञ्चदश में जनन और मृत्यु के अशौच विधि का [illegible] आयु के एवं [illegible] वर्णन है, षोडश में भिन्न भिन्न पदार्थों के शोधन का

निर्धन और (सहृदय) में ~~[illegible]~~ पाप करने वालों के लिये तरह-तरह के प्रायश्चित्त विधान और व्यवस्था दी गई है। पर इन सारे जप नियम और व्रतों के बीच प्राणरक्षा को स्मृतिकार ने बहुत अधिक महत्त्व दिया है। भगवान् मनु का प्रमाण देते हुए वे कहते हैं —

सर्वत्र जीवितं रक्षेज्जीवन् पापमपोहति।
व्रतैः कृच्छ्रैश्च दानैश्च इत्याह भगवान् मनुः।

हर अवस्था में मनुष्य को अपने प्राणों की रक्षा करनी चाहिये, यदि जीता रहेगा तो ~~[illegible]~~ कृच्छ्र व्रत, चान्द्रायण और दान के द्वारा पापों की शुद्धि भी कर लेगा। ऐसा भगवान् मनु ने कहा है। एक अन्य श्लोक में इसी तथ्य को उन्होंने और भी प्रभावोत्पादक ढंग से कहा है। वे कहते हैं शरीर धर्म का सर्वस्व है, प्रयत्नपूर्वक इसकी रक्षा करनी चाहिये। जैसे पर्वत से जल का स्रवण होता है वैसे ही शरीर से धर्म का स्रवण होता है —

शरीरं धर्मसर्वस्वं रक्षणीयं प्रयत्नतः।
शरीरात्स्रवते धर्मः पर्वतात्सलिलं यथा॥

अपनी स्मृति के प्रारम्भ में ही शङ्ख ने प्रतिज्ञा-वाक्य में कहा है कि चारों वर्णों के हित के लिये उन्होंने इस स्मृति की रचना की थी —

स्वयम्भुवे नमस्कृत्य सृष्टिसंहारकारिणे।
चातुर्वर्ण्यहितार्थाय शङ्खः शास्त्रमकल्पयत्॥

भिन्न-भिन्न वर्णों के लोगों के कर्तव्यों की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा है कि ब्राह्मण का कर्म यज्ञ याग आदि करना, दान देना, अध्ययन, अध्यापन एवं दान स्वीकार करना है, क्षत्रिय का प्रजा की रक्षा, वैश्य का कृषि, गोरक्षा एवं वाणिज्य एवं शूद्र का द्विजन्मा की सेवा करना है —

यजनं याजनं दानं तथैवाध्यापनक्रिया।
~~[illegible]~~
प्रतिग्रहं चाध्ययनं विप्रकर्माणि निर्दिशेत्॥
दानाध्ययनं विशेषेण प्रजानां परिपालनम्।
कृषिगोरक्षवाणिज्यं विशश्च परिकीर्तितम्॥
शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा सर्वशिल्पानि चाप्यथ।

भिन्न भिन्न वर्णों की दृष्टि से ये कर्तव्य भेद तो हैं ही पर कुछ ऐसे कर्तव्य भी हैं जो सभी के लिये समान रूप से वाञ्छनीय हैं। वे हैं सहनशीलता, सत्यवादिता, इन्द्रियनिग्रह, और ~~[illegible]~~ शुचिता —

क्षमा सत्यं दमः शौचं सर्वेषामविशेषतः॥

धार्मिक क्षेत्र में गुरु का स्थान बहुत ऊँचा है। स्मृतिकार उपनयन का महत्त्व स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि गुरु शिष्य का उपनयन करके उसे शौचाचार, अग्निकार्य, ~~[illegible]~~ सन्ध्योपासन की शिक्षा दे —

उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः।
आचारमग्निकार्यं च सन्ध्योपासनमेव च॥

शिक्षक के भी स्मृतिकार ने दो भेद किये हैं - गुरु और उपाध्याय। गुरु वह है जो विधिपूर्वक वेदाध्ययन कराता है और उपाध्याय वह जो वृत्ति के हेतु शिक्षा देता है —

स गुरुः [illegible] ददाति।
[illegible] उपाध्यायः स उच्यते॥

माता पिता और गुरु के आदर के विषय में स्मृतिकार बहुत जोर देते हैं। वे कहते हैं —

माता पिता गुरुश्चैव पूजनीयाः सदा नृणाम्।
क्रियास्तस्याफलाः सर्वा यस्यैतेऽनादृतास्त्रयः॥

मनुष्यों के लिये माता, पिता और गुरु सदैव पूजनीय हैं। जो इन तीनों का आदर नहीं करता उसकी समस्त क्रियाएं विफल हैं।

ब्रह्मचर्याश्रम के पश्चात् ब्राह्म, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच इन आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख कर स्मृतिकार वर्णभेद से विवाह योग्य स्त्री का निर्देश करते हैं। सामान्यतया पत्नी के गुणों का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं कि पत्नी वास्तव में वही है जो गृहकर्म में दक्ष हो, जो पतिव्रता हो, पतिप्राणा हो, सन्तानवती हो+ —

सा भार्या या गृहे दक्षा सा भार्या या पतिव्रता।
सा भार्या या पतिप्राणा सा भार्या या प्रजावती॥

शङ्ख कहते हैं कि पति को चाहिये कि वह उसका लालन भी करे और ताडन भी। लालन और ताडन दोनों के द्वारा ही स्त्री श्रीः अर्थात् लक्ष्मी बन सकती है अन्यथा नहीं —

लालनीया सदा भार्या ताडनीया तथैव च।
ताडिता लालिता चैव स्त्री श्रीर्भवति नान्यथा॥

स्मृतिकार शङ्ख ने भी आश्रमों में से गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता स्वीकार की है —

गृहस्थ एव यजते गृहस्थस्तप्यते तपः।
ददाति च गृहस्थस्तु तस्माच्छ्रेष्ठो गृहाश्रमी॥

गृहस्थाश्रम का पालन करते हुए ही मनुष्य यज्ञानुष्ठान करता है, गृहस्थ होते हुए ही तप करता है, गृहस्थ होते हुए ही दान दे पाता है, इसलिये गृहस्थ ही श्रेष्ठ होता है।* गृहस्थ के लिये अतिथि सत्कार के महत्त्व का भी शङ्ख ने सुदृढ शब्दों में प्रतिपादन किया है —

यथा भर्ता प्रभुः स्त्रीणां वर्णानां ब्राह्मणो यथा।
अतिथिस्तद्वदेवास्य गृहस्थस्य प्रभुः स्मृतः॥

जैसे पति स्त्रियों का और ब्राह्मण वर्णों का वैसे ही अतिथि गृहस्थ का स्वामी है।

* शेष सभी आश्रम गृहस्थ पर ही आश्रित हैं —

वानप्रस्थो ब्रह्मचारी यतिश्चैव तथा द्विजः।
गृहस्थस्य प्रसादेन जीवन्त्येते यथाविधि॥

इसी प्रकरण में ही स्मृतिकार शङ्ख ने संक्षेप में ८०: श्लोकों में सभी आश्रमों के लिये उनकी दृष्टि में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कर्मों का उल्लेख किया है। ये [illegible] उनकी स्मृति के नवनीत हैं। उनके मत में यदि स्त्री को स्वर्ग मिलता है+ तो पति शुश्रूषा से ही, न कि नाना व्रतों, उपवास और यज्ञों से, राजा को स्वर्ग मिलता, अधिकारी होता हो तो प्रजापालन से न कि अनेक यज्ञ करके व्रत उपवास और यज्ञ यागादि से, ब्रह्मचारी को स्वर्ग प्राप्त होता है तो गुरुकुल में [illegible] स्नान भोजन और [illegible] वाचन से [illegible]

स्नान, [illegible] और आहार वर्जन से, [illegible]

गीतगोविन्द

डा० उषा सत्यव्रत

कवि जयदेव कृत गीतगोविन्द के काव्य-सौन्दर्य पर मुग्ध होकर प्रमुख आलोचक एवं संस्कृत साहित्य के इतिहासकार कीथ ने कहा था कि गीतगोविन्द एक अत्युत्कृष्ट रचना है । अपने प्रभाव की परिपूर्णता में यह अन्य किसी भी भारतीय काव्य से कहीं बढ़कर है । काव्य की रसिकप्रिया नामक टीका के ~~टीका~~ रचयिता श्री कुम्भनृपति ने भी कवि जयदेव के विषय में कहा था --

प्रत्यज्ञायि प्रबन्धोयो जयदेवेन धीमता ।
न तस्य विद्यते लक्ष्म सर्वाङ्गैरुपलक्षितम् ।।

बुद्धिमान् जयदेव ने जिस प्रबन्ध की प्रतिज्ञा की उसका सर्वाङ्ग सुन्दर कोई भी सानी नहीं है । कवि की उपलभ्यमान इस एक मात्र कृति ने ही उन्हें सदा सदा के लिये अमर कर दिया है ।

कवि का जन्म लगभग ११०० ई० में बंगाल के किन्दुबिल्व नामक स्थान पर हुआ था । इनके पिता का नाम भोजदेव और माता का नाम राधादेवी था । किंवदन्ती है कि इनका जन्म जगन्नाथस्वामी की कृपा से हुआ था । वे राजा लक्ष्मणसेन की सभा के पांच रत्नों में से एक थे । चार अन्य रत्न थे गोवर्धन, धोयि, शरण एवं उमापतिधर । उनकी यशस्विता का इससे बढ़कर और प्रमाण क्या होगा कि प्रति वर्ष उनके जन्म स्थान पर उत्सव मनाया जाता है और उनके गीतगोविन्द से पद गाये जाते हैं । यह ग्रन्थ वैष्णव भक्तिधारा का प्रमुख ग्रन्थ होने एवञ्च सरल-सरस शैली में लिखा होने के कारण बहुत शीघ्र ही लोकप्रिय हो गया था । यहां तक कि १२९२ में उत्कीर्ण एक शिलालेख में तक उसका एक पद्य उद्धृत है । १४९९ में महाराज प्रतापरुद्रदेव ने तो यहां तक आदेश जारी कर दिया था कि वैष्णव गायक केवल गीतगोविन्द के गीत ही सीखें और उन्हीं का ही अभ्यास करें ।

गीतगोविन्द क्या है, इसके विषय में भिन्न-भिन्न काल पर विद्वानों ने भिन्न विचार व्यक्त किये हैं। कई विद्वान् सर्गों में विभक्त होने के कारण इसे महाकाव्य मानते हैं। पाश्चात्य विद्वान् जोन्स इसे गोप नाटक कहते हैं और लैसन गीति नाट्य। वान श्रोडर के अनुसार यह यात्रा का ही एक परिष्कृत रूप है, जबकि पिशेल के अनुसार यह एक शृंगारिक रूपक है। कतिपय अन्य विद्वान् इसे खण्ड काव्य मानते हैं। कवि ने गीतगोविन्द में काव्य और संगीत का समन्वित रूप उपस्थित किया है। यही कारण है कि यह रचना काव्य के परम्परागत रूप के कुछ समीप होती हुई भी इससे कुछ भिन्न प्रतीत होती है।

गीतगोविन्द में बारह सर्ग हैं। इन सर्गों के २४ उपविभाग हैं जिन्हें प्रबन्ध कहा गया है। ये प्रबन्ध गेय पद्यों में हैं। मातृका ग्रन्थों में इन प्रबन्धों के विषय में राग, और ताल एवं नृत्य का भी स्पष्ट उल्लेख है।

प्रस्तुत काव्य की कथावस्तु राधा और कृष्ण की प्रणय लीलाएं हैं। उनकी एक दूसरे के प्रति आसक्ति, रासलीला, अन्यासक्तिवश ईर्ष्या, मान, कोप, विरह वेदना एवं मिलन का हृदयस्पर्शी वर्णन इसमें है। काव्य के पारायण करने से ऐसा प्रतीत होता है कि कवि कथा वस्तु के संचालन में इतनी रुचि नहीं दिखाते जितनी कि किसी भाव के चित्रण में। कथासूत्र को जोड़ने वाले गिने चुने श्लोकों को यदि गीत-गोविन्द से निकाल दें तो यह मुक्तक श्लोकों एवं गीतिकाओं का एक संकलन मात्र रह जाता है। लेकिन भाव की सूक्ष्म अभिव्यक्ति में कवि अद्वितीय है।

विरहिणी राधा का चित्रण कितना स्वाभाविक है --

निन्दति चन्दनमिन्दुकिरणमनुविन्दति खेदमधीरम्।
व्यालनिलयमिलनेन गरलमिव कलयति मलयसमीरम्॥

विरहिणी राधा शीतल चन्दन की निन्दा करती है, व्याकुल होकर चन्द्रमा की किरणों को भी दुखदायी समझती है, मलयाचल से आने वाले सुगन्धित वायु को वह विष के समान मानती है।

प्रणय के आविर्भाव एवं विकास में रूपलिप्सा विशेष रूप से सहायक होती है।

प्रणय के संयोग पक्ष का चित्रण करते हुए कवि नायक नायिका के हृदयगत भावों का उद्रेक करने के लिए रूपचित्र-सा खींच देते हैं । उदाहरणार्थ नायिका के विषय में वे कहते हैं --

> बन्धूकद्युति बान्धवोऽयमधरः स्निग्धोमधूकच्छवि-
> गण्डश्चण्डि चकास्ति नीलनलिन श्रीमोचनं लोचनम् ।
> नासाभ्येति तिलप्रसूनपदवीं कुन्दाभदन्ति प्रिये
> प्रायस्त्वन्मुखसेनया विजयते विश्वं स पुष्पायुधः ।।

हे क्रोधशीले ! दोपहर के फूलों जैसा (लाल)यह तुम्हारा अधरोष्ठ शोभित हो रहा है, महुए के पुष्प तुल्य शोभा वाले तुम्हारे स्निग्ध कपोल हैं, नील कमल की कान्ति को चुराने वाले ये तुम्हारे नयन हैं और तुम्हारी नासिका तिल के फूल के समान शोभित हो रही है । हे कुन्द दन्तों वाली प्रिये राधिके ! प्रायः तुम्हारे मुख की ही सेना से कुसुमायुध अर्थात् कामदेव संसार को जीतता है ।

कवि जयदेव ने अर्थालंकारों का प्रयोग परम्परा के अनुसार ही किया है लेकिन फिर भी उन प्रयोगों में विलक्षणता है अपना एक वैशिष्ट्य है । कविजन विरहिणी नायिकाओं को कामपीड़ा की शान्ति के लिए उशीर तथा आर्द्र कमल-दल आदि का प्रयोग करते हुए चित्रित करते हैं । जयदेव की राधा भी हृदय पर कमलिनी के पत्ते धारण करती है लेकिन किसलिए ? अपनी दाह शान्त करने के लिए नहीं, वह उसका कवच है जिसे मानो वह इसलिए धारण किये रहती है कि कहीं कामदेव के वाण उसके हृदय में स्थित प्रियतम को न लग जायें । कवि ने कितनी सुन्दर उत्प्रेक्षा की है --

> अविरलनिपतितमदनशरादिव भवदवनाय विशालम् ।
> स्वहृदयमर्मणि वर्म करोति सजलनलिनीदलजालम् ।।

~~गेय पदों की रचना संगीत शास्त्रसम्मत विभिन्न ताल एवं रागों के अनुसार हुई है ।~~
उपयुक्त छन्दों का प्रयोग [भी कवि की अपनी विशेषता है ।] ~~से ही जयदेव अर्थ के अनुरूप नाद सौन्दर्य की सृष्टि करने में समर्थ हुए हैं । उनकी~~ [काव्य की] पद शय्या मनोरम है । ~~उनके काव्य में~~ शृंगार रस के अनुकूल सुकुमार वर्णों की [इसमें] ~~योजना मिलती है । वाक्य विन्यास में~~ स्वाभाविक प्रवाह है,

अवरोध अथवा कृत्रिमता का यहां कहीं नाम भी नहीं । उदाहरण के लिये कवि का यह सुप्रसिद्ध गीत उपस्थित किया जा सकता है --

ललितलवङ्गलता परिशीलन कोमल मलय समीरे ।
मधुकर निकर करम्बित कोकिल कूजित कुंजकुटीरे ।।
विहरति हरिरिह सरस वसन्ते नृत्यति युवति-
जनेन समं सखि विरहि जनस्य दुरन्ते ।।

राधा अद्वितीय सुन्दरी हैं तो कृष्ण भी कमनीयता में कम नहीं । उनके सौन्दर्य को समस्त पदावली द्वारा कवि ने कितने सुन्दर रूप से चित्रित किया है --

चन्दनचर्चितनील कलेवरपीतवसनवनमाली ।
केलिचलन्मणिकुण्डलमण्डितगण्डयुगस्मितशाली ।।

कवि ने शृंगारिक पद्यों के साथ भक्ति सम्बन्धी पद्यों की भी रचना की है । गीतगोविन्द के प्रथम सर्ग में विष्णु के दशावतार-वर्णन एवं कृष्ण स्तुति सम्बन्धी गीत जयदेव की भक्ति भावना के अच्छे परिचायक हैं --

प्रलय पयोधि जले धृतवानसि वेदम्
विहितवहित्रचरित्रमखेदम्
केशवधृतमीन शरीर जय जगदीश हरे ।।

उपर्युक्त श्लोक में भी वही मनमोहकता है जो काव्य के अन्य श्लोकों में है ।

जयदेव की भाषा को अत्यधिक सौन्दर्य प्रदान करने का श्रेय उनकी सानुप्रास पदावली को है । वे पदों के अन्त में तो अनुप्रास की योजना करते ही हैं उनके बीच में भी अनुप्रास की अद्भुत सृष्टि कर डालते हैं । भगवान् कृष्ण का वर्णन करते हुए वे कहते हैं --

दिनमणिमण्डलमण्डन भवखण्डन ए ।
कालिय विषधरगञ्जन जन रञ्जन ए ।।

गीतगोविन्द काव्य भावपक्ष और कलापक्ष इन दोनों पक्षों की दृष्टि से अद्वितीय है । कवि स्वयं अपने काव्य की उत्कृष्टता के प्रति जागरूक हैं । वे कहते हैं --

साध्वी माध्वीक चिन्ता न भवति भवत: शर्करे कर्कशासि,

द्राक्षे द्रक्ष्यन्ति के त्वाममृत मृतमसि क्षीर नीरं रसस्ते ।

माकन्द क्रीतकान्ताधरधरणितलं गच्छ यच्छान्ति भावं

यावच्छृङ्गारसारस्वतमिह जयदेवस्य विष्वग्वचांसि ।।

इस काव्य के रहते हुए सरस महुए की चिन्ता करने की ज़रूरत नहीं । शक्कर । तू तो कठोर है, हे अंगूर । तुझे कौन देखेगा, हे अमृत । तू तो इसके समक्ष मृत तुल्य है, हे क्षीर (दूध) तुम्हारा स्वाद पानी जैसा है, स्त्रियों के अधर तू भी पाताल चला जा । जब तक जयदेव का यह सरस काव्य है तब तक तुम्हारी सरसता और मधुरता को कौन पूछेगा ?

... ...

रामायणचम्पू

(डा० उषा सत्यव्रत)

प्रसिद्ध चम्पू काव्य रामायणचम्पू का प्रकाशित भाग केवल युद्धकाण्ड तक ही उपलब्ध है। यूं उत्तरकाण्ड की रचना भी हो चुकी है। श्री वेंङ्कट पण्डित नाम के एक विद्वान् ने उसे लिखा है। युद्धकाण्ड तक के भाग को भी दो व्यक्तियों ने लिखा है। प्रथम पांच काण्ड -- बालकाण्ड से सुन्दरकाण्ड -- तक के भाग को धाराधिपति महाराज भोज ने और युद्धकाण्ड को श्री लक्ष्मणसूरि नामक एक विद्वान् ने। धाराधिपति महाराज भोज संस्कृतजगत् के सुप्रसिद्ध विद्वान् हैं। श्रीमेरुतुङ्गाचार्य ने अपने ग्रन्थ प्रबन्धचिन्तामणि में महाराज भोज को सम्बोधित कर लिखा था --

भवदीयनगर्यां भवत्कारिताश्चतुरुत्तरं शतं प्रासादाः एतावन्त एव गीतप्रबन्धा भवदीयाः, एतावन्ति च विरुदानि।

अर्थात् "हे भोज। आपकी नगरी में आप द्वारा बनवाये गये १०४ प्रासाद हैं, इतने ही गीतप्रबन्ध हैं और इतनी ही आपकी उपाधियां हैं।" भोजप्रणीत सरस्वती-कण्ठाभरण के टीकाकार आजाद के अनुसार भोज ने ८४ ग्रन्थों की रचना की थी जिसके शीर्षक उसकी उपाधियों पर आधारित थे। भोज द्वारा रचित अब तक जो ग्रन्थ प्राप्त हो सके हैं उनकी सङ्ख्या १२ है। ये ग्रन्थ ज्योतिष, वैद्यक, नीतिशास्त्र, शैव शास्त्र, कोष, धर्मशास्त्र, व्याकरण, शिल्पशास्त्र आदि अनेक विषयों पर हैं। भोज का काल १००५ से १०५४ ई० माना जाता है। षष्ठ काण्ड के रचयिता श्रीलक्ष्मणसूरि का परिचय ग्रन्थ से ही उपलब्ध हो जाता है। इस काण्ड के अन्त में अपना परिचय देते हुए लेखक ने कहा है --

साहित्यादिकलावता शनगरग्रामावतंसायित-

श्रीगङ्गाधरधीरसिन्धुविधुनागङ्गाम्बिकासूनुना।

प्राग्भोजोदितपञ्चकाण्डविहितानन्दे प्रबन्धे पुनः

काण्डोलक्ष्मणसूरिणा विरचितः षष्ठोऽपि जीयाच्चिरम्।

रामायणचम्पू

(डा० उषा सत्यव्रत)

प्रसिद्ध चम्पू काव्य रामायणचम्पू का प्रकाशित भाग केवल युद्धकाण्ड तक ही उपलब्ध है। यूं उत्तरकाण्ड की रचना भी हो चुकी है। श्री वेंङ्कट पण्डित नाम के एक विद्वान् ने उसे लिखा है। युद्धकाण्ड तक के भाग को भी दो व्यक्तियों ने लिखा है। प्रथम पांच काण्ड -- बालकाण्ड से सुन्दरकाण्ड -- तक के भाग को धाराधिपति महाराज भोज ने और युद्धकाण्ड को श्री लक्ष्मणसूरि नामक एक विद्वान् ने। धाराधिपति महाराज भोज संस्कृतजगत् के सुप्रसिद्ध विद्वान् हैं। श्रीमेरुतुङ्गाचार्य ने अपने ग्रन्थ प्रबन्धचिन्तामणि में महाराज भोज को सम्बोधित कर लिखा था --

भवदीयनगर्यां भवत्कारिताश्चतुरुत्तरं शत प्रासादाः एतावन्त एव गीतप्रबन्धा भवदीयाः, एतावन्ति च विरुदानि।

अर्थात् "हे भोज। आपकी नगरी में आप द्वारा बनवाये गये १०४ प्रासाद हैं, इतने ही गीतप्रबन्ध हैं और इतनी ही आपकी उपाधियां हैं।" भोजप्रणीत सरस्वती-कण्ठाभरण के टीकाकार आजाद के अनुसार भोज ने ८४ ग्रन्थों की रचना की थी जिसके शीर्षक उसकी उपाधियों पर आधारित थे। भोज द्वारा रचित अब तक जो ग्रन्थ प्राप्त हो सके हैं उनकी सङ्ख्या १२ है। ये ग्रन्थ ज्योतिष, वैद्यक, नीतिशास्त्र, शैव शास्त्र, कोष, धर्मशास्त्र, व्याकरण, शिल्पशास्त्र आदि अनेक विषयों पर हैं। भोज का काल १००५ से १०५४ ई० माना जाता है। षष्ठ काण्ड के रचयिता श्रीलक्ष्मणसूरि का परिचय ग्रन्थ से ही उपलब्ध हो जाता है। इस काण्ड के अन्त में अपना परिचय देते हुए लेखक ने कहा है --

साहित्यादिकलावता शनगरग्रामावतंसायित-

श्रीगङ्गाधरधीरसिन्धुविधुनागङ्गाम्बिकासूनुना।

प्राग्भोजोदितप चकाण्डविहितानन्दे प्रबन्धे पुनः

काण्डोलक्ष्मणसूरिणा विरचितः षष्ठो पि जीयाच्चिरम्।

इससे पता चलता है कि ये शनगर ग्राम के निवासी थे। इनके पिता का नाम गङ्गाधर पण्डित था और माता का गङ्गा। ये लक्ष्मणसूरि विलक्षण विद्वान् थे। श्री राजचूडामणि ने काव्यदर्पण में इनके विषय में एक विचित्र तथ्य का उल्लेख किया है और वह यह कि इन्होंने मात्र एक दिन में युद्धकाण्ड की रचना की थी --

यद्यैकाह्ना भोजचम्प्वोर्युद्धकाण्डमपूरयत्।

श्री कामेश्वरसूरिकृत रामायणचम्पू टीका में लक्ष्मण सूरि की इस रचना को भोजचम्पू नाम से उल्लिखित किया गया है। उत्तरकाण्ड के रचयिता श्री वेङ्कट पण्डित के बारे में इस समय तक कुछ भी ज्ञात नहीं है। रामायणचम्पू का मूलस्रोत आदिकवि की अमर कृति वाल्मीकिरामायण है। वाल्मीकि रामायण के समान ही लेखकों ने उसे काण्डों में विभक्त किया है पर विषयवस्तु को अत्यन्त संक्षेप में प्रस्तुत करने के कारण उन्हें उन्होंने पुन: सर्गों में विभक्त नहीं किया। कवि ने वाल्मीकि रामायण के प्रति अपना आभार इन शब्दों में प्रकट किया है --

वाल्मीकिगीतरघुपुङ्गवकीर्तिलेशै-

स्तृप्तिं करोति कथमप्यधुना बुधानाम्।

गङ्गाजलैर्भुवि भगीरथयत्नलब्धै:

किं तर्पणं न विदधाति नर: पितृणाम्॥

अर्थात् मैं वाल्मीकि द्वारा वर्णित रघूत्तम राम के चरित प्रसङ्गों से बुद्ध जनों को तृप्त करता हूँ। भगीरथ के प्रयत्न से पृथ्वी पर उपलब्ध गङ्गाजल से क्या मनुष्य पितरों का तर्पण नहीं करता।

यहाँ यह विशेष उल्लेखनीय है कि यद्यपि वाल्मीकि रामायण कवि का प्रेरणा स्रोत रहा है तो भी स्वरूप, उद्देश्य, घटना, वर्णन आदि की दृष्टि से इसमें और उसमें अनेक स्थलों में भेद है। प्रथमत: तो दोनों काव्यों की शैली में ही भेद है। जहाँ वाल्मीकि रामायण सरल सुबोध शैली में लिखा गया है वहाँ रामायणचम्पू काव्यात्मक एवं अलङ्कृत शैली में निबद्ध है। लेखक कभी ऐसा अवसर हाथ से जाने नहीं देना चाहता जहाँ उसे अपनी काव्य शैली के प्रदर्शन करने का अवसर मिले। उदाहरणार्थ अत्याचार से पीड़ित

देवता विष्णु के पास पहुंचते हैं और उनके द्वारा किसी प्रकार के औपचारिक स्वागता-दि वचन कहे जाने के बिना सीधे अपनी बात कहने में तत्पर हो जाते हैं । जहां रामायण में अवध्यं दैवतैर्विष्णो समरे जहि रावणम् हे विष्णु, देवताओं के द्वारा अवध्य रावण को युद्ध में मार डालो, वहां रामायणचम्पू में विष्णु उनके लिये स्वागत वचन कहते हैं और उनका कुशलमङ्गल पूछते हैं और फिर वार्तालाप प्रारम्भ होता है --

अपि कुशलममर्त्याः स्वागतं साम्प्रतं वः

शमितदनुजदम्भा किं नु दम्भोलिकेलिः ?

अपि धिषणमनीषानिर्मिता नीतिमार्गा-

स्त्रिदशनगरयोग क्षेम कृत्ये रमन्ते ।।

"हे देवगण आप कुशल तो हैं ? आपका स्वागत है । क्या इन्द्र के वज्र से दैत्यों का दम्भ शान्त हो गया है ? क्या बृहस्पति से निकले हुए नीतिप्रयोग देव नगरी के योग-क्षेम को बनाये रखने में समर्थ हैं ?"

किं च रामायणचम्पू में कतिपय ऐसे प्रसङ्गों का उल्लेख भी पाया जाता है जिनका वाल्मीकि रामायण में उल्लेख नहीं है । उदाहरणार्थ वाल्मीकि रामायण में दशरथ की मृत्यु होने पर चिताधिरोहण का एवं भरत का उन्हें ऐसा करने से रोकने आदि का कहीं भी वर्णन नहीं है । पर रामायणचम्पू में कवि ने यह वर्णन किया है --

तत्र सामात्यः समुपेत्य पत्युश्चिताधिरोहण मभिलषन्तीं कौसल्यां भरतः शपथशतैर्नि-वार्य वसिष्ठादिष्टेन पथा दशरथाय सदा । यागशीलाय यायजूकाभिप्रेतं प्रेतकृत्यमकरोत् । रामायणचम्पू के `ततः प्रस्थाप्य जनस्थाने राक्षसानष्टौ नष्टनीतिरयं ताटकेयं हाटकमृगं पुरस्कृत्य सीताहृणां हरिणीं गृहीतुं तस्याव स थमाससाद` के अनुसार शूर्पणखा द्वारा जनस्थान के राक्षसों का मरण वृत्तान्त सुनकर रावण वहां की सुरक्षा के लिये आठ राक्षसों को भेजता है । पर वाल्मीकिरामायण में कहीं भी इन आठ राक्षसों को भेजने का उल्लेख नहीं है । इस प्रकार वाल्मीकिरामायण एवं रामायणचम्पू की तुलना करने पर अनेक प्रसङ्ग ऐसे मिल जाते हैं जहां कि इन दोनों में किसी न किसी प्रकार का भेद है । इससे इतना स्पष्ट है कि यद्यपि भोज ने वाल्मीकि रामायण को अपना आदर्श ग्रन्थ

माना था, उससे प्रेरणा ली थी तो भी सर्वत्र उसका अन्धानुकरण नहीं किया जिसके परिणामस्वरूप उसका ग्रन्थ वाल्मीकिरामायण की धूमिल प्रतिकृति मात्र न हो एक स्वतन्त्र साहित्यिक कृति बन गया। कवि कविता रस के पारखी हृदयों के आनन्द के लिये एक काव्य विशेष की सृष्टि करना चाहता था। पर उसका माध्यम क्या हो ? यह कवि की समस्या थी। कवि ने सोचा कि चम्पू के माध्यम से ही उसकी काव्यसरिता प्रवाहित होनी चाहिये क्योंकि इसी में ही गद्य और पद्य के गीत के वाद्य के साथ सम्मिश्रण होने के समान हृद्यता आ जाती है --

गद्यानुबन्धरसमिश्रित पद्यसूक्ति-
हृद्या हि वाद्यकलया कलितेव गीतिः।
तस्माद्दधातु कविमार्गजुषां सुखाय
चम्पूप्रबन्ध रचनां रसना मदीया ।।

कवि जो चाहता था वह पूरा हुआ। कवि की रचना हृद्य बनी। अनुप्रासादि अलङ्कारों ने तो उसमें भी और भी चार चांद लगा दिये। झनझनाती हुई वह थिरकने लगी। उदाहरणार्थ कवि नाना प्रकार के वृक्षसमुदाय से सुशोभित पम्पा तटवर्ती वन में प्रकटित वासन्ती शोभा का वर्णन करते हुए कहते हैं --

ततस्तस्यास्तटवने नानानोकहनिवहपरिष्कृते निभृतेतरभ्रमणपरभृतव्रातच चूमय विप चीस-मुद्दि चतप चमाि चता सन्तवाद्धि चतप चशरशरासनर्वि चतपथिकजनस चारप्रप चा प्रमद-चञ्चलच चरीककुलक चुकितमाधवी माधवी भूतिरुदजृम्भतः। इसी प्रकार उत्प्रेक्षादि अलङ्कारों ने भी कवि की कविता को अलङ्कृत कर दिया। उदाहरणार्थ -- वन गमन के अवसर पर अत्यन्त सुकुमारी प्रासादवासयोग्य, अदृष्टपूर्व सीता को जब जनसाधारण ने वन जाते देखा तो उनकी आंखों में आंसू उमड़ आये। इसी दृश्य का चित्रण करते हुए कवि ने कल्पना की है --

सीता पुरा गगनचारिभिरप्यदृष्टा
मा भूदियं सकलमानवनेत्रपात्रम्।

इत्याकलय्य नियतं पि दधे विधाता

बाष्पोदयेन नयनानि शरीरभाजाम् ।।

अर्थात् जिस सीता को पहिले आकाशचारी जीव भी नहीं देख पाते थे अब कहीं सभी मनुष्य न देख लें -- ऐसा सोच कर ही मानों विधाता ने सभी प्राणियों की आंखों में आंसू भर कर उनकी दृक्श   को छीन लिया । इसके अतिरिक्त ऋतुओं, सन्ध्या, चन्द्रोदय, प्रभात आदि के अत्यन्त हृदयस्पर्शी काव्यात्मक वर्णनों ने भी इस चम्पूकाव्य को सजा दिया है । यही कारण है कि इसके पूरक युद्ध काण्ड के रचयिता लक्ष्मणसूरि ने, जो स्वयं भी एक उत्कृष्ट कोटि के कवि थे, इसके काव्य सौन्दर्य पर मुग्ध होकर कहा था --

भोजेन तेन रचितामपिपूरयिष्य ।

न्नल्पीयसा पि वचसा कृतिमत्युदाराम् ।

न व्रीडितो हमधुना नवरत्नधार-

सङ्गेन किन्न हृदि धार्यत एव तन्तुः ।।

"भोज द्वारा रचित अत्युत्कृष्ट कृति रामायणचम्पू को स्वल्प शब्दों से पूर्ण करने की इच्छा से मैं लज्जित नहीं हूं । नवरत्न हार के संग तन्तु भी वक्षःस्थल पर धारण नहीं किया जाता क्या ?"

....

संस्कृत गीतम् -- प व न दू त से

डा० सत्यव्रत

धोयीकृत पवनदूत संस्कृत साहित्य की एक अमर कृति है । कालिदास के मेघदूत की अनुकृति पर लिखे गये अनेकानेक दूतकाव्यों में इसका स्थान सर्वोपरि है । इसके रचयिता कवि धोयी बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन की सभा के पंचरत्नों में से एक थे । साहित्य में इनका नाम विभिन्न प्रकार से उल्लिखित हुआ है । कहीं इन्हें धुयि कहा गया है, कहीं धुयिक और कहीं धोयी । कविराज इनकी उपाधि थी । पंचरत्नों का उल्लेख करने वाले श्लोक --

गोवर्धनश्च शरणो जयदेव उमापति: ।

कविराजश्च रत्नानि समितौ लक्ष्मणस्य च ।।

में कविराज पद से ही इनका उल्लेख मिलता है । पवनदूत की पुष्पिका में भी 'इतिश्री धोयी कविराजविरचितं पवनदूतम्' यह उल्लेख मिलता है । धोयी का काल राजा लक्ष्मणसेन से सम्बद्ध होने के कारण उसके विषय में सौभाग्य से बहुत अधिक अनिश्चय नहीं है । राजा लक्ष्मणसेन के विषय में इतना अवश्य निश्चित है कि उसका राज्याभिषेक बारहवीं शताब्दि के द्वितीय चरण में हुआ था । इस दृष्टि से कवि धोयी का समय बारहवीं शताब्दि का उत्तरार्द्ध ही ठहरता है । तेरहवीं शताब्दि के मध्य में रचित सुभाषित-मुक्तावली एवं चौदहवीं शताब्दि में रचित शार्ङ्गधरपद्धति में धोयी के पद्यों की उपलब्धि से भी इसी मत की पुष्टि होती है ।

कवि के जन्मस्थान, कुल, गोत्रादि के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता । उनकी कृतियों में केवल पवनदूत ही उपलब्ध है । इसके अतिरिक्त कुछ छुटपुट पद्य भी उनके नाम से सुभाषित ग्रन्थों में पाये गये हैं ।

पवनदूत के श्लोक १०४ में कवि ने अपने विषय में कहा है कि मैंने कई अमृतप्रवाही वाक्सन्दर्भों की रचना की है : 'वाक्सन्दर्भा: कतिचिदमृतस्यन्दिनो निर्मिताश्च' । इससे

प्रतीत होता है कि कवि को पवनदूत से अतिरिक्त भी अन्य कतिपय रचनायें थीं ।

कवि धोयी ने अपने आश्रयदाता राजा लक्ष्मणसेन को ही अपनी कविता के नायक के रूप में प्रस्तुत किया है ।

मलय पर्वत पर कनक नगरी नाम का एक सुन्दर स्थान है । एक बार जब राजा लक्ष्मणसेन दिग्विजय के अवसर पर दक्षिण पहुंचते हैं तो वहां की एक गन्धर्वकन्या कुवलयवती प्रथम दर्शन में ही उन पर आसक्त हो जाती है । राजा दिग्विजय कर स्वदेश लौट आते हैं । कुवलयवती उदास हो जाती है । कुछ दिनों तक वह नारी सुलभ लज्जावश अपनी मानसिक व्यथा का पता अपनी बचपन की सखियों तक को भी नहीं लगने देती पर वसन्त ऋतु में जब वह पवन को अन्य दिशा की ओर प्रस्थित हुआ अनुभव करती है तो वह अपने को और अधिक नहीं रोक सकती और भावोद्रेक में उससे गौड राजा लक्ष्मणसेन के पास अपना सन्देश पहुंचाने की याचना कर उठती है :

'त्वत्त: प्राणा: सकलजगतां दक्षिणस्त्वं प्रकृत्या
जंघालं त्वां पवन ! मनसो नन्तरं व्याहरन्ति ।
तस्मादेव त्वयि खलु मया सम्प्रणीतो र्थिभाव:
प्रायो भिक्षा भवति विफला नैव युष्मद्विधेषु ।।
तत्रावश्यं कुसुमसमये स त्वया शीलनीय:
सान्द्रोद्यानस्थगितगगनप्रांगणो गौडदेश: ।
तन्मे वस्थां कथय नृपतेर्जीवितत्राणहेतो:
प्रादुर्भावस्त्रिजगति खलु त्वादृशानां परार्थ: ।।'

'हे पवन ! समस्त जगत् तुझ से ही प्राणवान् है, तू स्वभाव से दक्षिणदिशाप्रवाही है और उदार है, वेगवत्ता में मन के पश्चात् तुम्हारा ही नाम लिया जाता है । इसलिये मैंने तुझसे ही याचना की है (क्योंकि) तुझ जैसों से याचना प्राय: कभी भी विफल नहीं जाती । सो तुम वसन्त के समय लम्बे घने घने उद्यानों से आकाश के विस्तार को मात देने वाले गौड देश में जाना और मेरी प्राणरक्षा के लिये मेरी अवस्था राजा को बताना । तुझ जैसों का जन्म त्रिलोकी में दूसरों के लिये ही होता है ।

इतना कह वह उसे गौड देश पहुंचने का मार्ग बताने लगती है । सबसे पहिले वह उसे पाण्ड्यदेश के ताम्रपर्णी नदी के तीर पर बसे उरगपुर नामक नगर को जाने को कहती है । इसके पश्चात् सेतु, कांची नगरी, कावेरी, माल्यवान्, आन्ध्रदेश, कलिंगनगरी, विन्ध्य पर्वत, नर्मदा नदी, ययातिनगरी, सुह्मादि पर्वतों, देशों, नदियों और नगरों को पार करते हुए वह राजा लक्ष्मणसेन की राजधानी विजयनगर में पहुंचने के लिये उसे कहती है :

स्कन्धावारं विजयपुरमित्युन्नतां राजधानीं
दृष्ट्वा तावद् भुवनजयिनस्तस्य राज्ञो चिरच्छैः ।

इसके पश्चात् वह विजयपुर की अपूर्व छटा और समृद्धि का वर्णन करने लगती है और इसी प्रसंग में कहती है --

स्निग्धश्यामारमणमणिभिर्बद्ध मुग्धालवालाः
पौरस्त्रीभिः क्रमुकतरवो रोपिताः प्रांगणेषु ।
यत्रायत्नोपगतसलिलैर्नक्तमासिक्तमूला
नापेक्षन्ते परिजनवधूपाणिविश्राणिताम्भः ।।

'(उस नगर में) स्त्रियों ने अपने अपने आंगन में क्रमुक वृक्ष रोपे हुए हैं । उनकी क्यारियां चन्द्रकान्त मणियों से बनी हैं । रात में चन्द्रमा के सम्पर्क से वे चन्द्रकान्तमणि पिघल उठते हैं और उन पौधों को पानी स्वतः ही मिल जाता है और फिर उन्हें घर की -- स्त्रियों के द्वारा पानी दिये जाने की अपेक्षा ही नहीं रहती ।'

विजयपुर में प्रवेश करने के बाद वह उसे राजभवन में जाने को कहती है जिसकी भव्यच्छटा का वर्णन वह इस प्रकार करती है --

पुंजीभूतं जगदिव ततः सप्तकक्ष्यानिवेशै
रम्यं यायाः भवनमवनीमण्डलाखण्डलस्य ।
यत्सौधानां शिखरिसुहृदां मूर्ध्नि विश्रान्तमेघे
विद्युल्लेखा वितरति मुहुर्वैजयन्तीविलासम् ।।

जिस प्रकार पृथ्वी में सात द्वीप हैं उसी प्रकार उस राजभवन में भी सात खण्ड हैं । इससे ऐसा प्रतीत होता है कि मानो सारा संसार सिमट कर वहां आ पहुंचा हो । इसके

मेघों के विश्रान्ति स्थान पर्वत के समान उत्तुंग महलों पर विद्युद्रेखा बार बार पताका की प्रतीति देती है ।

उस राजभवन में पहुंच वह पवन से देशकालानुरोधात् राजा से अपना सन्देश कहने को प्रेरित करती है ।

आसाद्यात: कमपि समयं सौम्य वक्तुं विविक्ते
देवं नोचैर्विनयचतुर: कामिनं प्रक्मेथा: ।

इस सन्देश में वह अपनी विरहवेदना का सविस्तार वर्णन करती है । वह पवन से कहती है कि तुम राजा से कहना कि प्रथम दर्शन में हो तुफ पर अनुरक्त कुवलयवती नामक गन्धर्व कन्या तेरे विरह में अत्यन्त दु:खी है । जिस समय से उसने तुम्हें देखा है उसी समय से उसमें प्रणयांकुर फूट उठा है और तब से आज तक वह विरहाग्नि में तिल-तिल कर जल रही है । इस समय तो वह उन्माद की स्थिति तक पहुंच चली है । कभी हंस देती है, कभी रो देती है । कभी प्रियसखियों के कानों से गिरे तालोपत्र को तुम्हारा पत्र समफने लगती है तो कभी क्रीडाशुक से तुम्हारा हालचाल पूछने लगती है :--

धत्ते सद्यस्त्वदुपगमितप्रेमलेखभ्रमं सा
तालीपत्रे प्रियसहचरीकर्णपाशच्युते पि ।
किंच क्रीडाशुकमपि मुहु: पृच्छति त्वत्प्रवृत्तिं
गाढोद्भूत: क्व खलु गणयत्यन्वयं त्वर्थिभाव: ।।

इस स्थिति में उसे कुछ भी नहीं भाता । उसे चन्द्रमा अप्रिय लगता है, सुन्दर बालों की ओर वह ध्यान ही नहीं देती, हार को उठा कर दूर फैंक देती है, चन्दन की निन्दा में आनन्द का अनुभव करती है और जैसे तैसे राजा को अपनी स्थिति से अवगत कराने के लिये कविता सोचती सोचती दिन बिता देती है --

धत्ते द्वेषं शशिनि कुरुते न ग्रहं केशहस्ते
दूरे हारं क्षिपति रमते निन्दया चन्दनस्य ।
वक्तुं देव त्वयि परमसौ स्वामवस्थां कथंचिद्
गाढोद्वेगा नमति कविताचिन्तया वासराणि ।।

चन्द्रमा के कारण वह रमणीय उद्यानभूमि में नहीं जाती, अपनी सखियों के साथ बात नहीं करती । केवल कामबाणों से अपने को बचाने के लिये राजा के चित्रपट को छाती पर रख लेती है --

चन्द्राद्रम्यामुपवनभुवं दूरतो द्वेष्टि बाला
नालापं च क्वचन कुरुते सार्धमालीजनेन ।
रक्षाहेतोः स्मरविशिखतः केवलं सा वराकी
धत्ते लीलाफलकमुरसि त्वत्प्रतिच्छन्दशोभि ।।

न वह कोकिल के पंचम स्वर को सहार सकती है और न ही भौंरों की गुंजार को । उसकी इस दशा को देख कौन करुणा से विह्वल नहीं हो उठेगा --

वीक्ष्यावस्थां क इव करुणाकातरः स्यान्न तस्याः ।

कुवलयवती गन्धर्वकन्या है । अपनी विद्या के प्रभाव से जहां चाहे वहां जा सकती है । पर वह डरती है कि कहीं तुम उसे अस्वीकार न कर दो । इसलिये वह स्वयं तुम्हारे पास आने का साहस नहीं जुटा पाती :--

सा सर्वत्राप्रतिहतगतिर्विद्यया सत्यपि त्वां
प्रत्याख्यानात् सुभग सहसा बिभ्यती नाभ्युपैति ।

कुवलयवती पवन से कहती है कि तुम मेरा नाम लेकर राजा से कहना कि किस कारण उसका अनुग्रह मुझ पर नहीं है । यदि पत्नी रूप में नहीं तो दासी रूप में ही वह मुझे स्वीकार कर ले । मुझे उसके चरण संवाहन का ही पुण्य मिल जाय तो भी मैं कृतकृत्यता का अनुभव करूंगी --

पुण्येन स्यां तव चरणयोः केन संवाहनेऽपि ।

यह है सन्देश जो नायिका पवन के माध्यम से राजा तक पहुंचाना चाहती है । वह पवन से कहती है कि क्या तुमने यह सन्देश ठीक से समझ लिया है । पर दूसरे ही क्षण कह उठती है कि अनेक प्रकार से भिक्षा मांगने की तुमसे क्या आवश्यकता ? तुम जैसों का मन परार्थ में ही रत रहता है । दुःखी लोगों के अश्रुमिश्रित काकुवादों को तुम जैसे नहीं सहन कर पाते --

सन्देशो यं मनसि निहित: कच्चिदायुष्मता मे
किं वा भूयस्त्वयि विरचितैरंग मिथ्याप्रकारै: ।
पारार्थ्यैकप्रवणमनसस्त्वद्विधा बाष्पमिश्रान्
आपन्नानां न खलु बहुश: काकुवादान् सहन्ते ।।

यह कह नायिका मौन हो जाती है और यहीं पवनदूत की भी परिसमाप्ति हो जाती है । इसके आगे के चार श्लोक कवि ने अपने बारे में लिखे हैं जिनका मुख्य कथानक से कोई सम्बन्ध नहीं है ।

'घटकर्पर कवि' 8.4.67
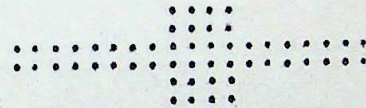
महाकवि कालिदास ने अपनी अमरकृति मेघदूत के द्वारा जिस जो संस्कृत दूतकाव्यों की जो शृङ्खला प्रवर्तित की उसी की ही एक कड़ी है घटकर्पर यमक काव्य। कवि के वास्तविक नाम, कुल गोत्रादि के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। घटकर्पर अथवा घटखर्पर ~~सम्भवतः उनका उपनाम था और~~ इसी नाम से ही वे संस्कृत साहित्य में प्रसिद्ध हुए। अपने काव्य के अन्तिम श्लोक में उन्होंने कहा है कि यदि अन्य कोई कवि मुझे यमक रचना में जीत सकेगा तो मैं फूटे घड़े (घटकर्पर) से उसके लिए पानी भरूंगा। संभवतः खर्पर शब्द ~~का प्रयोग कवि ने किया~~ था? कालान्तर में उच्चारण परिवर्तन के कारण वह कर्पर में परिणत हो गया। ~~वह कवि प्रतिज्ञा कवि ने इन शब्दों में की थी~~ —

भावानुरक्तललनासुरतैः शपेय
मालम्ब्य चाम्बु तृषितः करकोशपेयम्।
जीयेय येन कविना यमकैः परेण
तस्मै वहेयमुदकं घटकर्परेण॥

घटकर्पर काव्य में कुल मिलाकर २२ श्लोक हैं जिन्हें कवि ने भिन्न भिन्न छन्दों में उपनिबद्ध किया है। जनश्रुति के अनुसार महाकवि कालिदास ने इसकी रचना की थी परन्तु यह ~~मत समीचीन~~ समुचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि विक्रमादित्य की सभा के नव रत्नों के परिगणन में कालिदास का नाम घटकर्पर से पृथक् उल्लिखित किया गया है —

धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशंकुवेतालभट्टघटकर्परकालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य॥

सम्भव है दोनों ही कवियों के समकालीन होने के कारण कदाचित् यह भूल हुई हो। महाराज विक्रमादित्य का काल प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व माना जाता

है। उसकी समा के नवरत्नों में से एक होने के कारण सम्भवतः घटकर्पर का भी वही समय रहा होगा। घटकर्पर काव्य पर आचार्य अभिनव गुप्त पाद ने विवृति नाम की एक सुन्दर व्याख्या लिखी है। ध्वनि सिद्धान्त के प्रमुख इस प्रमुख आचार्य द्वारा लिखित यह टीका स्थान स्थान पर काव्य के मर्मोद्घाटन में समर्थ हुई है। टीकाकार ने अनेक स्थलों पर नाना प्रकार के ध्वनि अर्थों की उद्भावना भी की है। विद्वान् ग्रन्थकार और विद्वान् टीकाकार के इस अपूर्व सुवर्ण सुगन्ध संयोग से यह कृति संस्कृत साहित्य में अभूतपूर्व हो मानी गई है।

कालिदास के मेघदूत एवञ्च उसकी अनुकृति पर लिखे गये अनेक दूत काव्यों से इस दूत काव्य में एक मौलिक भेद है। यहां नायिका नायक को संदेश भेजती है। इस प्रकार का प्रयोग बहुत कम दूत काव्यों में पाया जाता है। 21 श्लोकों में 2 श्लोक 2-5, और 8-14 नायिका कहती है, और बाद वाले श्लोक नायक द्वारा प्रेषित दूती कहती है और अन्तिम श्लोक (21) अपने बारे में कहता है।

काव्य की कथा वस्तु बहुत ही संक्षिप्त है। एक नायिका का प्रियतम उसे अकेली छोड़ परदेस चला जाता है। वर्षा ऋतु में उमड़ घुमड़ कर आये बादलों को देख वह उसके वियोग में व्याकुल हो उठती है। वह अपनी विरह वेदना को संभाल नहीं पाती और कह उठती है

सर्व ... तोयदा
आगताः स्व दयितो गतो यदा

श्री रामानुज

(डा० सत्यव्रत)

विशिष्टाद्वैतमत के प्रमुख आचार्य श्री रामानुज का जन्म दक्षिण में सन् १०१७ में हुआ । इनके पितामह श्री यामुनाचार्य की तीन सन्तान थीं -- एक पुत्र महापूर्ण और दो कन्याएं, कान्तिमती और द्युमती । इनमें कान्तिमती रामानुज की माता थी । इनके पिता का नाम केशवयज्वन् था । श्री रामानुज अभी सोलह ही वर्ष के थे कि इनका स्वर्गवास हो गया था । बचपन में मामा महापूर्ण ने इनका नाम लक्ष्मण रखा था । इधर द्युमती का भी एक पुत्र था गोविन्द । गोविन्द और रामानुज दोनों ही सहाध्यायी थे । ये दोनों ही श्री यादवप्रकाश के शिष्य थे जोकि अद्वैतवेदान्त के अपने समय के प्रमुख विद्वान् माने जाते थे । पर प्रखरबुद्धि रामानुज उनसे सन्तुष्ट नहीं थे । वे समय समय पर उनकी बात काट दिया करते थे जिससे यादव प्रकाश उनसे बहुत रुष्ट रहा करते थे । बात यहां तक आगे बढ़ी कि एक दिन यादवप्रकाश ने अपने एक दुष्ट शिष्य की सहायता से रामानुज को गंगा में ढकेल कर [उनसे छुटकारा पाना चाहा ।] रामानुज के मौसेरे भाई एवं सहाध्यायी गोविन्द को इस योजना का पता चल गया । उसके कहने से रामानुज जंगल में भाग निकले और एक व्याध और उसकी पत्नी की सहायता से कांचीपुर में पहुंच गये । वहां उन्होंने विवाह किया और देवराज की भक्ति करते हुए सुख से जीवन बिताने लगे । अपने मामा महापूर्ण से वे यामुनाचार्य के विषय में अक्सर सुना करते थे । उनके मन में उनके दर्शनों की प्रबल इच्छा जगी और वे उनसे भेंट करने श्रीरंगम् चल दिये । जब वे वहां पहुंचे तो यामुनाचार्य यह संसार छोड़ चुके थे । श्री रामानुज ने उनके मृत देह में एक विचित्र बात देखी । उनके दायें हाथ की तीन उंगलियां टेढ़ी थीं । श्री रामानुज की जिज्ञासा पर श्री यामुनाचार्य के शिष्यों ने बताया कि मृत्यु से पहिले श्री यामुनाचार्य की तीन इच्छाएं थीं जिन्हें वे पूरी न कर सके । तीन उंगलियों का टेढ़ा होना इसी बात का सूचक है । उन्होंने यह भी कहा कि यदि कोई व्यक्ति इन तीन इच्छाओं को पूरा करने की प्रतिज्ञा करे तो ये उंगलियां सीधी हो सकती हैं । श्री रामानुज ने तत्काल [इन इच्छाओं को पूरा करने की] प्रतिज्ञा की और [illegible] [illegible] देखते-देखते वे तीनों उंगलियां सीधी हो गईं । वे तीन

इच्छाएं थीं --

(१) ब्रह्मसूत्र पर एक सरल भाष्य की रचना करना ।

(२) जनता में वैष्णव धर्म के प्रपत्ति सिद्धान्त का प्रचार करना ।

(३) श्री वैष्णव धर्म पर अनेक ग्रन्थों की रचना करना ।

श्री यामुनाचार्य की अन्त्येष्टि क्रिया के पश्चात् श्री रामानुज कांचीपुर लौट आये और पूर्ववत् जीवन बिताने लगे । पर उनके मन में अपने मामा महापूर्ण एवंच अन्य दरिद्र जनों के प्रति अपनी पत्नी के अनुचित व्यवहार से बहुत क्षोभ रहता था । इसी क्षोभ से ही उन्होंने एक दिन उसे अपने मायके भेज दिया और स्वयं बत्तीस वर्ष की अवस्था में संन्यास ले लिया । यह उनकी विद्वत्ता का ही प्रभाव था कि उनके गुरु यादव प्रकाश भी उनके शिष्य बने । श्री रामानुज ने उनका नाम गोविन्ददास रखा । कालान्तर में इन्हीं गोविन्ददास ने ही यति धर्म समुच्चय नाम के एक उत्कृष्ट ग्रन्थ की रचना की ।

श्री रामानुज ने नौ ग्रन्थों की रचना की -- ब्रह्मसूत्र भाष्य अथवा श्रीभाष्य, भगवद्गीताभाष्य, वेदान्तदीप, वेदान्तसार, शरणागतिगद्य, श्रीरंगगद्य, श्रीवैकुण्ठगद्य, नित्यग्रन्थ और वेदार्थसंग्रह ।

भागवतधर्म के प्रमुख आचार्य होने के कारण परमपुरुष अर्थात् इष्टदेव में श्री रामानुज का विश्वास था । पर उपनिषदों के ब्रह्मतत्व में भी उनकी (श्री रामानुज की) आस्था थी । इन दोनों का समन्वय श्री रामानुज के विशिष्टाद्वैत में पाया जाता है । उनके अनुसार ईश्वर और ब्रह्म में कोई तात्त्विक भेद नहीं है । चित् जीव एवंच अचित् प्रकृति ये ईश्वर के अंश हैं । चिदचिद् रूप से उपबृंहण होने के कारण ही अद्वैत को ब्रह्म संज्ञा दी जाती है । ब्रह्म का जब चिदचिद् अंशों से परिणाम होता है तभी सृष्टि का उद्भव होता है, जब वह इन चिदचिद् अंशों को अपने में समेट लेता है तो प्रलय होता है । रामानुज को अद्वैती इसलिये कहा जाता है कि वे अद्वैत में विश्वास रखते हैं पर उनका अद्वैत चिदचिद् अंशों से घिरा है । उनके अनुसार आत्म शरीर भाव और प्रकार प्रकारिभाव अद्वैत को विशिष्ट करते हैं । इनसे विशिष्ट होने के कारण ही उसे विशिष्टाद्वैत कहा जाता है । माया श्री रामानुज के मत में सृष्टि रचने की

अद्‌भुत शक्ति है । मोक्ष रूप में वे विदेह मुक्ति को ही स्वीकार करते हैं जीवन्मुक्ति को नहीं । अपनी इन मौलिक मान्यताओं और उद्‌भावनाओं के कारण ही श्री रामानुज अत्यन्त यशस्वी हुए और युग-युग तक के लिये जनमानस में प्रतिष्ठित हो गए ।

:::::::::::::::

मनु

(डा० सत्यव्रत)

संस्कृत साहित्य में मनु का उल्लेख अति प्रचुर है । मानव जाति के आदि-ग्रन्थ ऋग्वेद तक में भी उनका नाम उपलब्ध होता है । ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में ~~उनका~~ उन्हें मानव जाति का पिता कहा गया है -- (१) यामथर्वा मनुः पिता दध्यङ् धियमत्नत, (२) मच्चंश्च योश्च मनुरायेजे पिता (३) यानि मनुरवृणीता पिता नः । इसी ग्रन्थ में ही एक अन्य स्थान पर वैदिक ऋषि प्रार्थना करता है कि हम कभी भी मनु के परम्परागत मार्ग से दूर न हों : मा नः पथः पित्र्यान्मानवादधि दूरं नैष्ट परावतः । एक अन्य स्थान पर मनु को आदि यज्ञ कर्ता कहा गया है : येभ्यो होत्रं प्रथमामायेजे मनुः । ताण्ड्यमहाब्राह्मण में मनु के कथन को भेषज (अर्थात् औषध) कहा है : यद्वै किं च मनुरवदत्तद्भेषजम्, मनुर्वै यत्किंचावदत्तद् भेषजम् । तैत्तिरीयसंहिता में मानवजाति को मनु की प्रजा कहा है : मानव्यो हि प्रजाः । ऐतरेय ब्राह्मण में मनु से सम्बन्धित एक कहानी पाई जाती है जिसमें बताया गया है कि किस प्रकार मनु ने अपनी सारी सम्पत्ति अपने पुत्रों में बाँट दी पर एक पुत्र नाभानेदिष्ठ को कुछ नहीं दिया । निरुक्त में एक स्थल पर पिता की सम्पत्ति में पुत्र और पुत्री के समान अधिकार पर विचार किया गया है । यास्क समान अधिकार के पक्ष में हैं और अपने मत की पुष्टि में स्वायम्भुव मनु के इन दो श्लोकों को उद्धृत करते हैं --

> अङ्गादङ्गात्सम्भवसि हृदयादधिजायसे ।
> आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् ।।
> अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः ।
> मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ।।

गौतम, वसिष्ठ और आपस्तम्ब आदि भी अपने ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर मनु के मत को प्रमाण रूप में उपस्थित करते हैं । महाभारत में भी नाना स्थलों में मनु का उल्लेख पाया जाता है । कहीं केवल मनु का, कहीं स्वायम्भुव मनु का और कहीं प्राचेतस मनु का ।

शान्ति पर्व.....

मनु

(डा० सत्यव्रत)

संस्कृत साहित्य में मनु का उल्लेख अति प्रचुर है । मानव जाति के आदि-ग्रन्थ ऋग्वेद तक में भी उनका नाम उपलब्ध होता है । ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में ~~उनका~~ उन्हें मानव जाति का पिता कहा गया है -- (१) यामथर्वा मनुः पिता दध्यङ् धियमत्नत, (२) मच्छंश्च योश्च मनुरायेजे पिता (३) यानि मनुरवृणीता पिता नः । इसी ग्रन्थ में ही एक अन्य स्थान पर वैदिक ऋषि प्रार्थना करता है कि हम कभी भी मनु के परम्परागत मार्ग से दूर न हों : मा नः पथः पित्र्यान्मानवादधि दूरं नैष्ट परावतः । एक अन्य स्थान पर मनु को आदि यज्ञ कर्ता कहा गया है : येभ्यो होत्रं प्रथमामायेजे मनुः । ताण्ड्यमहाब्राह्मण में मनु के कथन को भेषज (अर्थात् औषध) कहा है : यद्वै किंच मनुरवदत्तद्भेषजम्, मनुर्वै यत्किंचावदत्तद् भेषजम् । तैत्तिरीयसंहिता में मानवजाति को मनु की प्रजा कहा है : मानव्यो हि प्रजाः । ऐतरेय ब्राह्मण में मनु से सम्बन्धित एक कहानी पाई जाती है जिसमें बताया गया है कि किस प्रकार मनु ने अपनी सारी सम्पत्ति अपने पुत्रों में बाँट दी पर एक पुत्र नाभानेदिष्ठ को कुछ नहीं दिया । निरुक्त में एक स्थल पर पिता की सम्पत्ति में पुत्र और पुत्री के समान अधिकार पर विचार किया गया है । यास्क समान अधिकार के पक्ष में है और अपने मत की पुष्टि में स्वायम्भुव मनु के इन दो श्लोकों को उद्धृत करते हैं --

अङ्गादङ्गात्सम्भवसि हृदयादधिजायसे ।
आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् ।।
अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः ।
मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ।।

गौतम, वसिष्ठ और आपस्तम्ब आदि भी अपने ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर मनु के मत को प्रमाण रूप में उपस्थित करते हैं । महाभारत में भी नाना स्थलों में मनु का उल्लेख पाया जाता है । कहीं केवल मनु का, कहीं स्वायम्भुव मनु का और कहीं प्राचेतस मनु का ।

शान्ति पर्व......

शान्ति पर्व में बताया गया है कि किस प्रकार अदृश्य पुरुषोत्तम ने एक लाख श्लोकों की रचना की । इन श्लोकों से ही समस्त लोक व्यवहार के धर्मों की प्रवृत्ति हुई --

ऋषीनुवाच तान्सर्वानदृश्य: पुरुषोत्तम: ।
कृतं शतसहस्रं हि श्लोकानामिदमुत्तमम् ।।
लोकतन्त्रस्य कृत्स्नस्य यस्माद्धर्म: प्रवर्तते ।।

वहां कहा गया है कि स्वायम्भुव मनु स्वयं उन धर्मों का निरूपण करेंगे --

तस्मात् प्रवक्ष्यते धर्मान् मनु: स्वायम्भुव: स्वयम् ।

कतिपय पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि मनु नाम के कोई ऐतिहासिक व्यक्ति ~~थे~~ हुए ही नहीं । मनु विचारशक्ति अथवा चिन्तनशक्ति का प्रतीक है । इस मत की पुष्टि में वे मनु शब्द के निर्वचन को ही उपस्थापित करते हैं । मनु मन् धातु से बनता है जिसका अर्थ है चिन्तन करना, विचार करना । पाश्चात्य विद्वानों का यह मत कहां तक समीचीन है यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता । भारतीय विद्वान् इसे नहीं मानते स्वञ्च इसके विरोध में प्रबल तर्क उपस्थापित करते हैं ।

एक ग्रन्थविशेष जो कि मनु से बहुत निकट से सम्बद्ध है मनुस्मृति है । इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में बताया गया है कि ब्रह्मा से आदि में विराज् उत्पन्न हुए, उनसे मनु का जन्म हुआ और फिर उनसे ऋषिवर्य भृगु और नारद उत्पन्न हुए । अन्य ऋषि मनु के पास गये और उनसे वर्णाश्रम धर्मों को जानना चाहा --

मनुमेकाग्रमासीनमभिगम्य महर्षय: ।
प्रतिपूज्य यथान्यायमिदं वचनमब्रुवन् ।।
भगवन् सर्ववर्णानां यथावदनुपूर्वश: ।
अन्तरप्रभवानां च धर्मान्नो वक्तुमर्हसि ।।

मनु ने उनसे कहा कि उनके शिष्य भृगु ही उन्हें यह सब बतायेंगे । विधि प्रतिषेधरूप यह शास्त्र उन्होंने मुझसे पढ़ा था --

एतद्ऽयं भृगु: . . . . .

शान्ति पर्व में बताया गया है कि किस प्रकार अदृश्य पुरुषोत्तम ने एक लाख श्लोकों की रचना की । इन श्लोकों से ही समस्त लोक व्यवहार के धर्मों की प्रवृत्ति हुई --

ऋषीनुवाच तान्सर्वानदृश्यः पुरुषोत्तमः ।
कृतं शतसहस्रं हि श्लोकानामिदमुत्तमम् ।।
लोकतन्त्रस्य कृत्स्नस्य यस्माद्धर्मः प्रवर्तते ।।

वहाँ कहा गया है कि स्वायम्भुव मनु स्वयं उन धर्मों का निरूपण करेंगे --

तस्मात् प्रवक्ष्यते धर्मान् मनुः स्वायम्भुवः स्वयम् ।

कतिपय पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि मनु नाम के कोई ऐतिहासिक व्यक्ति थे ही नहीं । मनु विचारशक्ति अथवा चिन्तनशक्ति का प्रतीक है । इस मत की पुष्टि में वे मनु शब्द के निर्वचन को ही उपस्थापित करते हैं । मनु मन् धातु से बनता है जिसका अर्थ है चिन्तन करना, विचार करना । पाश्चात्य विद्वानों का यह मत कहाँ तक समीचीन है यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता । भारतीय विद्वान् इसे नहीं मानते स्वन्च इसके विरोध में प्रबल तर्क उपस्थापित करते हैं ।

एक ग्रन्थविशेष जो कि मनु से बहुत निकट से सम्बद्ध है मनुस्मृति है । इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में बताया गया है कि ब्रह्मा से आदि में विराज् उत्पन्न हुए, उनसे मनु का जन्म हुआ और फिर उनसे ऋषिवर्य भृगु और नारद उत्पन्न हुए । अन्य ऋषि मनु के पास गये और उनसे वर्णाश्रम धर्मों को जानना चाहा --

मनुमेकाग्रमासीनमभिगम्य महर्षयः ।
प्रतिपूज्य यथान्यायमिदं वचनमब्रुवन् ।।
भगवन् सर्ववर्णानां यथावदनुपूर्वशः ।
अन्तरप्रभवानां च धर्मान्नो वक्तुमर्हसि ।।

मनु ने उनसे कहा कि उनके शिष्य भृगु ही उन्हें यह सब बतायेंगे । विधि प्रतिषेधरूप यह शास्त्र उन्होंने मुझसे पढ़ा था --

एतद्वोऽयं भृगुः.....

एतद्वोऽयं भृगु: शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषत: ।
एतद्धि मत्तोऽधिजगे सर्वमेषोऽखिलं मुनि: ।।

मनु के यह कहने पर प्रसन्नचित्त भृगु ने ऋषियों से कहा सुनिये --

ततस्तथा स तेनोक्तो महर्षिर्मनुना भृगु: ।
तानब्रवीदृषीन्सर्वान् प्रीतात्मा श्रूयतामिति ।।

मनुस्मृति में १२ अध्याय हैं । पहिले में सृष्ट्युत्पत्तिप्रक्रिया का वर्णन है । दूसरे में धर्म के प्रामाण्य और ब्रह्मचारी के कर्तव्यों का निरूपण है । तीसरे, चौथे और पांचवें में गृहस्थधर्मों का वर्णन है । छठे में वानप्रस्थ एवं सन्यास तथा सातवें में राजधर्म का निरूपण है । आठवें में व्यवहार, नवें में राजधर्म एवम् वैश्य शूद्रादि के कर्तव्य, दसवें में वर्णसंकर, वर्णधर्म, आपद्धर्मादि, ग्यारहवें में दान यज्ञादि एवं बारहवें में पुनर्जन्म तथा मोक्षादि का वर्णन है । इस प्रकार मनुष्य की समूची जीवन प्रक्रिया से सम्बन्धित नियम मनुस्मृति में पाये जाते हैं । न केवल भारत में ही अपितु ब्रह्मा, श्याम, यवद्वीप आदि अन्य देशों में भी इसे प्रमाण माना जाता रहा है । मनु चाहे कोई काल्पनिक व्यक्ति रहे हों या कोई ऐतिहासिक महापुरुष उन्होंने समाज के सुचारु सञ्चालन के लिए जिस व्यवस्था का प्रतिपादन किया था वह मानव जाति की एक अमूल्य धाती है । मानव शब्द को ही लीजिये । यही मनु का स्मरण कराता रहता है । इससे बढ कर और गौरव मनु का क्या हो सकता है ।

आधुनिक संस्कृत साहित्य

अम्बिकादत्त व्यास का साहित्य

--- डा० सत्यव्रत

महाकवि अम्बिकादत्त व्यास का जन्म जयपुर में १९५९ में हुआ था । इनके पूर्वज जयपुर के पास के ही एक ग्राम घूलिलय (या धूलिया) के रहने वाले थे । इनके जन्म के पश्चात् इनके पिता पण्डित दुर्गादत्त काशी चले गये । प्राकृत और संस्कृत काव्य रचना में इनकी अबाध गति थी । कवि अम्बिकादत्त व्यास ने पातञ्जलप्रतिबिम्ब नामक योगसूत्र व्याख्याग्रन्थ एवम् सामवतम् नामक नाटक की भूमिका में आत्म-परिचय देते हुए लिखा है कि किस प्रकार इनके पूज्य पिता हर समय चलते-फिरते, उठते-बैठते, पढ़ते-पढ़ाते इन्हें कुछ न कुछ सिखाते ही रहते थे । वे रामायण, महाभारत, पुराणादि से इन्हें कहानियां सुनाते थे, काव्य रचना का अभ्यास कराते थे, छन्द के नियम समझाते थे, व्याकरण के सूत्रों का अर्थ बताते थे और दर्शनशास्त्र के गूढ़ तत्व समझाते थे । इनकी नैसर्गिक प्रतिभा के विकास में उनका बहुत बड़ा हाथ था । उनके इन सत्प्रयत्नों का ही यह फल था कि इन्होंने बहुत छोटी उमर में ही साहित्य सृजन आरम्भ कर दिया । छोटी उमर से ही लिखने का जो अभ्यास पड़ा तो जीवन भर लिखते ही गये और इस प्रकार एक विशाल वाङ्मय की सृष्टि इन्होंने कर डाली । सन् १९०१ में वे वैकुण्ठलोक सिधार गये । अल्प काल में ही इन्होंने बिहारीविहार, पातञ्जलप्रतिबिम्ब, धर्माधर्मकलकल, मित्रालाप, रत्नाष्टक, प्रस्तारदीपिका, गणेशशतक, शिवविवाह, गुप्ताशुद्धिप्रदर्शन, शिवराजविजय आदि ७८ ग्रन्थों की रचना कर डाली । अपनी इस नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के कारण इन्होंने अपूर्व यश अर्जित किया । उस समय की विद्वन्मण्डली ने प्रसन्न होकर इन्हें भारतभास्कर साहित्याचार्य, महामहोपाध्याय आदि अनेक उपाधियों से विभूषित किया । इनका गद्यकाव्य शिवराजविजय संस्कृत की अनेक परीक्षाओं में

..... पाठ्यपुस्तक

पाठ्यपुस्तक के रूप में नियत किया गया । न केवल नवीन साहित्य सृजन में ही अपितु संस्कृत के प्रचार में भी इन्होंने महत्वपूर्ण योग दिया । बिहार में इन्होंने संस्कृत-सन्जीवनी समाज की स्थापना की जिसके माध्यम से इन्होंने संस्कृत के पुनरुज्जीवन और पुनरुद्धार के लिये निरन्तर प्रयत्न किया । इनके जीवन के अपराह्ण में इनकी कार्य-स्थली बिहार बन गई थी । अनेक वर्ष ये भागलपुर में कार्य करते रहे । तत्पश्चात् पटना आ गये । मृत्यु से पूर्व तक ये राजकीय संस्कृत कालेज, पटना, में साहित्याध्यापक के पद पर कार्य करते रहे ।

७८ कृतियों में से उनकी सर्वाधिक विख्यात कृतियां सामवतम् और शिवराजविजय है । सामवतम् छ: अंकों का एक रोचक नाटक है । इसका कथानक यौन परिवर्तन पर आधारित है । सारस्वत और वेदमित्र दोनों ही घनिष्ठ मित्र हैं । वे चाहते हैं कि उनके पुत्र सामवत और सुमेधा की मैत्री भी उतनी ही सुदृढ़ हो । उनकी इच्छा पूरी होती है । सामवत और सुमेधा एक दूसरे के अभिन्न मित्र बन जाते हैं । वयस्क होने पर अर्थोपार्जन हेतु वे विदर्भराज से मिलने चल पड़ते हैं । मार्ग में सामवत को मदालसा दीख जाती हैं । उनकी रूपमाधुरी में वे इतने तन्मय हो जाते हैं कि पास खड़े दुर्वासा को भी नहीं देख पाते । दुर्वासा क्रुद्ध होकर उन्हें कालान्तर में स्त्री बन जाने का शाप दे देते हैं । चलते-चलते सामवत अप्सराओं के बीच पहुंच जाते हैं और स्त्री बन जाते हैं । सुमेधा को उनके इस परिवर्तित रूप पर बहुत आश्चर्य होता है । वे दोनों स्त्री-पुरुष एक-दूसरे पर आसक्त हो जाते हैं । विदर्भराज के दरबार में वे पहुंचते हैं और वहां पर राजाज्ञा से उनका पावन परिणय सम्पन्न होता है ।

नाटक की भाषा, सरल, सरस और प्रवाहमयी है । अनुप्रास का विवेकपूर्वक प्रयोग भाषा में झनझनाहट पैदा कर देता है मानो अनेक घण्टियां एक साथ बज उठी हों । उदाहरण के रूप में --

विलसति विमला कमला कमलावलिललिततरा ।
कमलेव द्रवरूपा विलोडयन्ती यदीयरेणुकणान् ।।

लक्ष्मी शब्द

पाठ्यपुस्तक के रूप में नियत किया गया । न केवल नवीन साहित्य सृजन में ही अपितु संस्कृत के प्रचार में भी इन्होंने महत्वपूर्ण योग दिया । बिहार में इन्होंने संस्कृत-सञ्जीवनी समाज की स्थापना की जिसके माध्यम से इन्होंने संस्कृत के पुनरुज्जीवन और पुनरुद्धार के लिये निरन्तर प्रयत्न किया । इनके जीवन के अपराह्ण में इनकी कार्य-स्थली बिहार बन गई थी । अनेक वर्ष ये भागलपुर में कार्य करते रहे । तत्पश्चात् पटना आ गये । मृत्यु से पूर्व तक ये राजकीय संस्कृत कालेज, पटना, में साहित्याध्यापक के पद पर कार्य करते रहे ।

७८ कृतियों में से उनकी सर्वाधिक विख्यात कृतियां सामवतम् और शिवराजविजय है । सामवतम् छ: अंकों का एक रोचक नाटक है । इसका कथानक यौन परिवर्तन पर आधारित है । सारस्वत और वेदमित्र दोनों ही घनिष्ठ मित्र हैं । वे चाहते हैं कि उनके पुत्र सामवत और सुमेधा की मैत्री भी उतनी ही सुदृढ़ हो । उनकी इच्छा पूरी होती है । सामवत और सुमेधा एक दूसरे के अभिन्न मित्र बन जाते हैं । वयस्क होने पर अर्थोपार्जन हेतु वे विदर्भराज से मिलने चल पड़ते हैं । मार्ग में सामवत को मदालसा दीख जाती हैं । उनकी रूपमाधुरी में वे इतने तन्मय हो जाते हैं कि पास खड़े दुर्वासा को भी नहीं देख पाते । दुर्वासा क्रुद्ध होकर उन्हें कालान्तर में स्त्री बन जाने का शाप दे देते हैं । चलते-चलते सामवत अप्सराओं के बीच पहुंच जाते हैं और स्त्री बन जाते हैं । सुमेधा को उनके इस परिवर्तित रूप पर बहुत आश्चर्य होता है । वे दोनों स्त्री-पुरुष एक-दूसरे पर आसक्त हो जाते हैं । विदर्भराज के दरबार में वे पहुंचते हैं और वहां पर राजाज्ञा से उनका पावन परिणय सम्पन्न होता है ।

नाटक की भाषा, सरल, सरस और प्रवाहमयी है । अनुप्रास का विवेकपूर्वक प्रयोग भाषा में झनझनाहट पैदा कर देता है मानो अनेक घण्टियां एक साथ बज उठी हों । उदाहरण के रूप में --

विलसति विमला कमला कमलावलिललिततरा ।
कमलेव द्रवरूपा विलोडयन्ती यदीयरेणुकणान् ।।

....लक्ष्मी शब्द

लक्ष्मी शब्द की आवृत्ति कितनी मनमोहक है --

आचारलक्ष्मीमपि राज्यलक्ष्मीं
माधुर्यलक्ष्मीमपि धैर्यलक्ष्मीम् ।
चातुर्यलक्ष्मीमपि शौर्यलक्ष्मीं
बिभ्रत्स लक्ष्मीश्वर इत्यभाणि ।।

कवि ने नाटक में अनेक संस्कृत मुक्तक (गीत) देकर एक नवीन परिपाटी का प्रचलन किया है । गीत के प्रारम्भ में राग और ताल का भी निर्देश कर दिया है जो कि कवि के गम्भीर संगीतज्ञान को प्रदर्शित करता है । उदाहरण के रूप में --

जागृहि जागृहि वीर नरेश
धर्मकर्मबहुशर्मसमायुत निजकुलकमलदिनेश ।
जागृहि०
किञ्चित्स्फुटितैः कमलकलापैर्निद्रां जहति सरांसि
गुञ्जन्तो मञ्जुलमलिपुञ्जाः सपदि हरन्ति मनांसि ।
जागृहि०

महाकवि ने अपनी कविता में संस्कृत और संगीत का अपूर्व स्वर्णसुगन्ध-संयोग प्रस्तुत किया है । संगीत को वे मोहनमन्त्र मानते हैं --

सोऽयं मोहनमन्त्र एष विधिना सङ्गीतसंज्ञः कृतः ।

और संस्कृत को सुधाकणिका --

एषा हृदयसमुद्रे मधुरा गीरस्ति यत्सुधाकणिका ।

इस सुधाकणिका को मोहनमन्त्र से सम्पृक्त करने की अदम्य इच्छा यदि कवि की रही तो इसमें आश्चर्य क्या ? इसी अदम्य इच्छा का ही यह परिणाम था कि इन्होंने मृदंग के बोल भी संस्कृत श्लोक में बांध दिये --

.... धिं धिं धिं

धिं धिं धिं तटधिं तधिं तटकधिं ताधीनधिं ताकधिं
तुक्का तुन्न तटाक मतटत्ता ताघूमघुं ताकघुम् ।
द्रां द्रां द्रां घ्रकतां तटत्त टकघां तट्टक्कघामुच्चरन्
भौं भौं भावकलावति प्रियतमे शस्यो मृदङ्गस्तव ।।

पुन: इसी इच्छा के कारण ही उन्होंने सम्पटों के समाज में विलासिनियों के नृत्य के समय बजने वाले मृदंग के 'धिक् तान् धिक् तान्' बोल से उन्हें धिक्कार हो और कांस्यताल के 'कान् कान् कान्' बोल से 'किन्हें किन्हें' (किन्हें), इन अर्थों की कल्पना कर डाली --

आरब्धे नृत्यकृत्ये हरिगुणरहिते लम्पटानां समाजे
धिक्तान् धिक्तान् मृदङ्गः कथयति सुतरां सम्मुखं श्रावयित्वा ।
कान् कान् कान् कांश्च ताल: प्रतिरणतितरामङ्गहारैश्च बाला
सभ्रूभङ्गैरपाङ्गैः प्रवदति सकलं नूनमेतान् समेतान् ।।

अपनी दूसरी महत्वपूर्ण कृति शिवराजविजय में कवि ने गद्य में छत्रपति शिवाजी का जीवन-चरित्र प्रस्तुत किया है । इसमें इन्होंने अपने पाण्डित्य का भरपूर प्रदर्शन किया है । कवि का गद्य बाण के गद्य का स्मरण दिलाता है । उसी प्रकार ही इसमें भी श्लेष और विरोधाभास की भरमार है । इस प्रकार का शब्दगुम्फन विदग्ध-मुखमण्डन है और यही कारण है कि यह ग्रन्थ विद्वत्समाज में सुतरां समादृत हुआ है । कथानक का सन्निवेश भी इसमें बहुत रोचक ढंग से किया गया है । कवि के गद्य में स्वारस्य है । श्लेषादि के कारण रचना जहां क्लिष्ट हो गई है वहां भी भाषा में सौष्ठव है, पदशय्या मनमोहक है । उदाहरण के रूप में कवि का राजपूताने का वर्णन देखिये । कवि कहते हैं :

अस्ति कश्चन धैर्यधारिधुरन्धरैर्धमोद्धारधौरेयैः सोत्साहसाहसकन्वच्चन्द्रहासैः सुशक्तिशक्तिभिः सद्यश्छिन्नपरिपन्थिगलगलच्छोणितच्छुरितच्छन्नच्छुरिकैः भयोद्भेदनभिन्दिपालैः स्वप्रतिकूलकुलोन्मूलनानुकूलव्यापारव्यासक्तशूलैः घनविघ्नविघट्टकघर्घराघोषघोरशतघ्नीकैः प्रत्यर्थिशुण्डिशुण्डाखण्डनोद्दण्डभुशुण्डीकैः, प्रचण्डदोर्दण्ड[illegible] व्याप्तो राजपुत्रदेशः।
.... शिवाजी

शिवाजी को देखते ही औरङ्गजेब की जो दशा हुई उसे कवि ने कितने अनुप्रासमय एवम् प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया है --

दृष्ट्वैव भवन्तं हरिद्राद्रवस्नपितकपोल इव निःशोणितवदनो विस्मृततुरङ्गः पारिप्लवकुरङ्ग इव पर्यन्वेषितसुरङ्गः सवेपथुदुरङ्गः संवत्स्मीति समासादितभयानकनवरङ्गोऽवरङ्गः ।

ऐतिहासिक घटनाओं को अतीव रोचक ढंग से प्रस्तुत करने में कवि अतीव सफल हैं । स्थान-स्थान पर इन्होंने यवनों के रीति-रिवाज और जीवनचर्या पर कटु व्यंग्य भी किया है ।

सारा ग्रन्थ अतीव आकर्षक है । कहीं इसमें स्वाभाविक संवाद हैं, कहीं हास्य का पुट है, कहीं भीषण संग्राम का वर्णन है, कहीं प्रणय का मोहक चित्रण है । कहीं इसमें महाराष्ट्र के स्वतन्त्रता के मतवाले वीरों का चित्रण है तो कहीं मुगल दरबार के विलासी और लम्पट दरबारियों का वर्णन है । कवि की क्रान्तिदर्शिता का इस अनुपम कृति में पदे-पदे परिचय मिलता है ।

महाकवि अम्बिकादत्त व्यास इस शताब्दी के ही व्यक्ति थे -- आज से निकट -- पर लेखन शैली में वे इस शताब्दी से बहुत दूर थे । उनका स्थान बाण, दण्डी और सुबन्धु के आस-पास था । वे आधुनिक युग में रह कर भी सुदूर अतीत में समाये हुए थे । संस्कृत साहित्य में इनकी कृतियां सदा-सर्वदा अमर रहेंगी ।

नलचम्पू

डा० उषा सत्यव्रत

साहित्यशास्त्रियों ने काव्य के दो भेद किये हैं -- दृश्यकाव्य और श्रव्यकाव्य । दृश्यकाव्य के दो भेद हैं -- रूपक और उपरूपक और श्रव्यकाव्य के तीन -- गद्यकाव्य, पद्यकाव्य और मिश्रकाव्य अर्थात् गद्यपद्यमय काव्य। श्रव्यकाव्य का यह अन्तिम मिश्रकाव्य अथवा गद्यपद्यमय काव्य ही चम्पू है । आचार्य विश्वनाथ ने इसका लक्षण देते हुए कहा है -- `गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते ।` गद्यपद्यमय काव्य को चम्पू कहा जाता है ।

संस्कृत में इस गद्यपद्यमय शैली का पर्याप्त प्रचलन रहा है । समय-समय पर रामायण चम्पू, भारत चम्पू, यशस्तिलक चम्पू आदि अनेक चम्पू काव्य इसमें लिखे जाते रहे हैं । इन चम्पू काव्यों में सबसे प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण है नलचम्पू । इसके लेखक हैं कविवर त्रिविक्रमभट्ट । इनके विषय में किंवदन्ती प्रचलित है कि ये पहिले बहुत मूर्ख थे । इनके पिता का नाम पण्डित देवादित्य था । वे अपने समय के बहुत बड़े विद्वान् थे । एक बार उन्हें दूसरे स्थान पर जाना पड़ा । इसी बीच एक परदेसी विद्वान् उनकी नगरी में आया और वहां के राजा के पास जाकर बोला -- महाराज आपके यहां अगर कोई उद्भट विद्वान् हो तो उससे शास्त्रार्थ करने एवं उसे पराजित करने का अवसर आप मुझे दीजिये । यदि न हो तो मुझे शास्त्रार्थ के बिना ही जयपत्र दे दीजिये । यह सुन महाराज ने पण्डित देवादित्य को बुलाने के लिये अपने आदमी भेजे । पण्डित देवादित्य तो घर पर नहीं थे । वे आदमी उनके पुत्र त्रिविक्रम को पकड़ लाये । त्रिविक्रम बहुत असमंजस में पड़े । वे कुछ पढ़े लिखे तो थे नहीं । शास्त्रार्थ करें तो कैसे ? अन्त में अपनी लाज बचाने के लिये उन्होंने भगवती सरस्वती की आराधना की । आराधना से प्रसन्न होकर भगवती ने उनसे कहा कि जब तक आपके पिता लौट कर नहीं आते मैं आपके मुख में वास करूंगी । भगवती से यह वर पा त्रिविक्रमभट्ट शास्त्रार्थ के लिये गये और

नलचम्पू

डा० उषा सत्यव्रत

साहित्यशास्त्रियों ने काव्य के दो भेद किये हैं -- दृश्यकाव्य और श्रव्यकाव्य। दृश्यकाव्य के दो भेद हैं -- रूपक और उपरूपक और श्रव्यकाव्य के तीन -- गद्यकाव्य, पद्यकाव्य और मिश्रकाव्य अर्थात् गद्यपद्यमय काव्य। श्रव्यकाव्य का यह अन्तिम मिश्रकाव्य अथवा गद्यपद्यमय काव्य ही चम्पू है। आचार्य विश्वनाथ ने इसका लक्षण देते हुए कहा है -- `गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते।` गद्यपद्यमय काव्य को चम्पू कहा जाता है।

संस्कृत में इस गद्यपद्यमय शैली का पर्याप्त प्रचलन रहा है। समय-समय पर रामायण चम्पू, भारत चम्पू, यशस्तिलक चम्पू आदि अनेक चम्पू काव्य इसमें लिखे जाते रहे हैं। इन चम्पू काव्यों में सबसे प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण है नलचम्पू। इसके लेखक हैं कविवर त्रिविक्रमभट्ट। इनके विषय में किंवदन्ती प्रचलित है कि ये पहिले बहुत मूर्ख थे। इनके पिता का नाम पण्डित देवादित्य था। वे अपने समय के बहुत बड़े विद्वान् थे। एक बार उन्हें दूसरे स्थान पर जाना पड़ा। इसी बीच एक परदेसी विद्वान् उनकी नगरी में आया और वहां के राजा के पास जाकर बोला -- महाराज आपके यहां अगर कोई उद्भट विद्वान् हो तो उससे शास्त्रार्थ करने एवं उसे पराजित करने का अवसर आप मुझे दीजिये। यदि न हो तो मुझे शास्त्रार्थ के बिना ही जयपत्र दे दीजिये। यह सुन महाराज ने पण्डित देवादित्य को बुलाने के लिये अपने आदमी भेजे। पण्डित देवादित्य तो घर पर नहीं थे। वे आदमी उनके पुत्र त्रिविक्रम को पकड़ लाये। त्रिविक्रम बहुत असमंजस में पड़े। वे कुछ पढ़े लिखे तो थे नहीं। शास्त्रार्थ करें तो कैसे ? अन्त में अपनी लाज बचाने के लिये उन्होंने भगवती सरस्वती की आराधना की। आराधना से प्रसन्न होकर भगवती ने उनसे कहा कि जब तक आपके पिता लौट कर नहीं आते मैं आपके मुख में वास करूंगी। भगवती से यह वर पा त्रिविक्रमभट्ट शास्त्रार्थ के लिये गये और

नाना शास्त्रों के पारंगत उस परदेसी विद्वान् को अपने प्रबल तर्क से पराजित कर ससम्मान घर लौट आये । लौटकर वे सोचने लगे कि पिता के घर वापिस आने तक सरस्वती का मेरे मुख में वास रहेगा । सो क्यों न मैं इस बीच एक ग्रन्थ की रचना ही कर डालूं । ग्रन्थ किस पर लिखा जाय यह भी अपने में एक समस्या थी । तभी उन्हें यह श्लोक याद आया --

पुण्यश्लोको नलो राजा पुण्यश्लोको जनार्दन: ।

पुण्यश्लोका च वैदेही पुण्यश्लोको युधिष्ठिर: ।।

और उन्होंने नल पर एक गद्यपद्यमय चम्पू काव्य लिखने का निश्चय कर डाला । वे बड़े ही मनोयोग से लिखते गये । ज्योंही वे इस ग्रन्थ के सातवें उच्छ्वास तक पहुंचे उनके पिताश्री लौट आये और उनके आते ही सरस्वती उनके मुख से निकल गई । त्रिविक्रम फिर वही मूर्ख त्रिविक्रम बन गये । ग्रन्थ अधूरा का अधूरा ही रह गया ।

ग्रन्थ अपूर्ण है इसीलिये इसमें महाराज नल के वनविहार और स्वर्णहंस के दर्शन से लेकर दमयन्ती के प्रार्थी इन्द्रादि देवताओं के नल को दूत बनाकर भेजने एवं नल को उनका सन्देश दमयन्ती तक पहुंचाने तक की कथा का ही वर्णन है । बीच की सब घटनाएं -- जैसे राजा का हंस को पकड़ना, हंस का विलाप, बिलखना, द्रवित होकर राजा का हंस को छोड़ना, हंस का दमयन्ती के उन्मादक सौन्दर्य का वर्णन करना, राजा के मन में प्रणय का अंकुरित होना, हंस का दमयन्ती के पास जाकर नल के सौन्दर्य का वर्णन करना, दमयन्ती का राजा के प्रति अनुरक्त होना बहुत ही रोचक ढंग से काव्य में वर्णित की गई हैं ।

नलचम्पू में प्रथमोच्छ्वास में महाकवि बाण का उल्लेख है । महाराज भोज के सरस्वती कण्ठाभरण में एकावली अलंकार के उदाहरण के रूप में नलचम्पू के एक पद्य --

पर्वतभेदिपवित्रं जैत्रं नरकस्य बहुमतंगहनम् ।

हरिमिव हरिमिव हरिमिव वहति पय: पश्यत पयोष्णी ।।

का उल्लेख है । इससे स्पष्ट है कि त्रिविक्रम भट्ट का समय बाण और भोज के

बीच का है । यही त्रिविक्रमभट्ट राष्ट्रकूट राजा इन्द्र तृतीय के नौसारी अभिलेख के लेखक भी हैं । इस अभिलेख का समय ६१५ ई० है । इस आधार पर त्रिविक्रमभट्ट का समय नवम शताब्दी का उत्तरार्ध मानना उचित होगा ।

त्रिविक्रमभट्ट का नलचम्पू -- जिसका एक अन्य नाम दमयन्ती कथा भी है -- के अतिरिक्त एक अन्य चम्पूकाव्य मदालसाचम्पू के लेखक के रूप में भी उल्लेख पाया जाता है ।

नलचम्पू पर तीन टीकाएं उपलब्ध होती हैं जिनके रचयिता हैं चण्डपाल जैन, गुणविनयगणी और दामोदर भट्ट । चण्डपाल जैन की टीका में षष्ठोच्छ्वास के आदि में एक पद्य पाया जाता है जिसके आधार पर दीपशिखा कालिदास, घण्टामाघ आदि की तरह त्रिविक्रमभट्ट का भी यमुना त्रिविक्रम भट्ट नाम पड़ गया । वह पद्य है --

प्राच्याङ्घ्रिविष्णुपदीहेतोरपूर्वोऽयं त्रिविक्रमः ।
निर्ममे विमलं व्योम्नि यत्पदं यमुनामपि ।।

त्रिविक्रमभट्ट की शैली अत्यन्त मनोहारिणी है । कुछ अंश में यह मनोहरता गद्य-पद्य के अपूर्व सम्मिश्रण में स्वतः ही निहित है । महाराज भोज ने कहा है कि चम्पू में गद्य और पद्य का एक दूसरे से वही सम्बन्ध है जो संगीत में गीत और वाद्य का --

गद्यानुबन्धरसमिश्रितपद्यसूक्तिः
हृद्याऽपि वाद्यकलया कलितेव गीतिः ।।

त्रिविक्रमभट्ट की अपनी विशेषता श्लेष रचना में है । नलचम्पू के प्रथमोच्छ्वास के बाईसवें श्लोक में उन्होंने कहा है --

भंगश्लेषकथाबन्धं दुष्करं कुर्वता मया ।
दुर्गस्तरीतुमारब्धो बाहुभ्यामम्भसां पतिः ।।

मैंने दुष्कर भंगश्लेषपूर्ण कथा प्रबन्ध की रचना का प्रारम्भ क्या किया है मानों दुर्गम समुद्र को भुजाओं से तैरना प्रारम्भ किया है । श्लेष के प्रति उनकी आसक्ति इस श्लोक से भी स्पष्ट है --

प्रसन्नाः कान्तिहारिण्यो नानाश्लेषविचक्षणाः ।

भवन्ति कस्यचित्पुण्यैर्मुखे वाचो गृहे स्त्रियः ।।

"सौभाग्य से ही किसी व्यक्ति के मुख में ऐसी वाणी और घर में ऐसी स्त्री का वास होता है जो प्रसादगुण से युक्त हो अथवा जो प्रसन्नचित्त हो, जो परिष्कृत पदावली के कारण मनोहर हो अथवा जो कान्तियुक्त देह के कारण आकर्षक हो, जो अनेक प्रकार के श्लेषों का उद्घाटन करती हो अथवा जो अनेक प्रकार के आलिंगनों में दक्ष हो ।"-

कवि की रचना श्लेषप्रधान होने पर भी मधुर है । अर्थ भले ही आसानी से समझ न आये पर पदशय्या अत्यन्त मनोहारिणी है । शब्दविन्यास में अनुप्रास का पुट पर्याप्त है कुछ इस तरह का कि झंकार सी पैदा हो जाती है । उदाहरण के लिये सुनिये --

अनेन मृदुमूर्छनातरंगरंगिताधारेण । श्रवणपथप्रथमप्रियातिथिना श्लोकत्रयेण विषविषमविषयवैरस्यव्रतव्रततिकठिनकुठारेण दारपरिग्रहपराङ्मुखोऽपि शृंगारशृंगिशृंगमुत्तुंगमारोप्यमाणस्तदेवोद्यानममन्दमन्दारमकरन्दमत्तमधुकरमधुरझंकार-रमणीयमुपसर्तुमारभत ।

इसी तरह का एक अन्य रोचक उदाहरण है --

चलच्चकोरचक्रवाकचक्रचंचुचंचलचंचरीकचरणचूर्णितचम्पकांकुरमरिच-मंजरिदलदन्तुरेण वनमार्गेण स्तोकमन्तरमतिक्रान्तस्तया पुनरेवं बभाषे ।

किसी भी लेखक की इससे बढ़कर और सफलता क्या हो सकती है कि उत्तरवर्ती लेखक उसकी रचना को प्रमाणरूप में उद्धृत करें । यह सफलता कवि त्रिविक्रमभट्ट को पूर्णरूप से प्राप्त हुई । अलंकारशास्त्र के मूर्धन्य आचार्य विश्वनाथ और भोज ने उनके पद्यों को उदाहरण रूप में अपनी रचनाओं में उद्धृत किया है । कवि का प्रतिज्ञावाक्य है कि वह काव्य काव्य ही नहीं है जिसके हृदय को छू जाने से सिर झूम नहीं उठता --

किं कवेस्तेन काव्येन किं काण्डेन धनुष्मतः ।

परस्य हृदये लग्नं न घूर्णयति यच्छिरः ।।

कवि अपनी प्रतिज्ञा में खरे उतरे हैं। उनके काव्य को लिखे सहस्त्र के लगभग वर्ष बीतने को आये पर जब जब भी विद्वानों ने इसे पढ़ा है उनका सिर झूमता ही रहा है।

महाभारत का शान्तिपर्व

डा० सत्यव्रत

महाभारत में शान्तिपर्व का विशेष स्थान है। इसमें तीन काण्ड हैं — राजधर्म, आपद्धर्म और मोक्ष धर्म। इन तीनों काण्डों में अनेक गहन जटिल समस्याओं की उद्भावनाएं की गई हैं और उनका समाधान प्रस्तुत किया गया है। सारा का सारा पर्व संवादरूप में है। युधिष्ठिर प्रश्नकर्ता हैं और कुरुवृद्ध भीष्म समाधानकर्ता। इस प्रश्नोत्तररूप संवाद के कारण गहन से गहन तथ्य भी इसमें रोचक रूप से प्रस्तुत हुए हैं। महाभारत का यह अकेला पर्व ही अतुल ज्ञान का भण्डार है। दर्शन के इतिहास की दृष्टि से भी इसका विशेष महत्त्व है। सांख्य, योग, वेदान्तादि दर्शनों का इसमें अपनी एक नि[illegible] दृष्टि से प्रतिपादन है।

इस पर्व की पूर्वपीठिका भी बहुत रोचक है। महाभारत का युद्ध समाप्त हो चुका है। इसमें भयङ्कर नरसंहार हुआ है। विजयश्री यद्यपि पाण्डवों के हाथ ही लगी है तो भी महाराज युधिष्ठिर बन्धुजनों के विनाश के कारण क्षुब्ध हैं। वे सोचते हैं कौरव हमारे भाई बन्धु ही तो थे। उन्हें मार कर राज्य लिया भी तो क्या। वे नितरां व्याकुल एवं अशान्त हैं। श्री कृष्ण एवं भाई भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव उन्हें नाना प्रकार से सान्त्वना देने का प्रयत्न करते हैं। श्रीकृष्ण के साथ वार्तालाप करते करते श्री युधिष्ठिर ओघवती नदी के तट पर पहुँच जाते हैं जहां पितामह भीष्म शरशय्या पर लेटे हैं। वे उनके पास पहुँचते हैं, उनकी स्तुति करते हैं और कहते हैं कि आपसे बढ़कर और कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है जिसे देश, जाति और कुल के धर्मों का पूरी तरह ज्ञान हो, जिसे वेदों में प्रतिपादित एवं शिष्टोक्त धर्म अवगत हो, जिसे इतिहास और पुराण के तत्त्वों का सम्यक् ज्ञान हो, और जिसे धर्मशास्त्र सर्वाङ्गरूप से ज्ञात हो। वे उनसे कहते हैं कि आप अपने बुद्धिबल से पाण्डवराज युधिष्ठिर की मानसिक अशान्ति को दूर करें —

देशजातिकुलानां च जानीषे धर्मलक्षणम्।
वेदोक्तो यश्च शिष्टोक्तः सदैव विदितस्तव॥
इतिहासपुराणार्थाः कार्त्स्न्येन विदितास्तव।
धर्मशास्त्रं च सकलं नित्यं मनसि ते स्थितम्॥
ये च केचन लोकेऽस्मिन्नर्थाः संशयकारकाः।
तेषां छेत्ता नास्ति लोके त्वदन्यः पुरुषर्षभ॥

इस पर भीष्म कहते हैं कि मेरे शरीर के अंग-अंग दुख रहे हैं। प्राण निकलने को हो रहे हैं। दुर्बलता के कारण आवाज नहीं निकल रही। इस स्थिति में मैं कैसे बोल पाऊँगा।
बलों [illegible] च।
ममापि पारितव्यानि [illegible]॥

यो विलिख्य जगतो बाहुभ्यां सकलं वसुधामिमाम्।
इस पर श्रीकृष्ण उन्हें वर देते हैं ~~[illegible]~~ कि आप ~~[illegible]~~ को किसी प्रकार का कष्ट न होगा।
ग्लानि, मूर्छा, दाह, पीड़ा कुछ भी यहाँ तक कि भूख-प्यास भी ~~इनको~~ आपको नहीं सतायेगी —
गृहाणात्र वरं भीष्म मत्प्रसादकृतं विभो।
न ते ग्लानिर्न ते मूर्छा न दाहो न च ते रुजा।
प्रभविष्यन्ति गाङ्गेय क्षुत्पिपासे न चाप्युत॥
इस वर के पश्चात् भीष्म में ~~भी शारीरिक~~ ~~[illegible] प्रकार की [illegible]~~ करने की शक्ति आ जाती है। ~~जाती है कि वे धर्मोपदेश कर सकें~~। वे कहते हैं —
~~[illegible]~~।
हन्त धर्मान् प्रवक्ष्यामि दृढे वाङ्मनसी मम॥
वे चाहते हैं कि युधिष्ठिर उनसे धर्मविषयक प्रश्न करें, वे इस से प्रसन्न होंगे और वे उनका समाधान करेंगे —
युधिष्ठिरस्तु धर्मात्मा मां धर्माननुपृच्छतु।
एवं प्रीतो भविष्यामि धर्मान् वक्ष्यामि चाखिलान्॥
और यहाँ से भीष्म का धर्मोपदेश आरम्भ हो जाता है। युधिष्ठिर प्रश्न करते जाते हैं। भीष्म उत्तर देते जाते हैं। बीच बीच में अपने उत्तर के प्रमाण में वे प्राचीन घटनाओं जिन्हें वे इतिहास कहते हैं — अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् का उल्लेख करते जाते हैं।
सब से पहिले वे राजधर्मों का प्रतिपादन करते हैं। वे कहते हैं कि पहिले कोई राजा नहीं था। धर्म से ही प्रजा एक दूसरे की रक्षा किया करती थी —
न वै राज्यं न राजासीन्न दण्डो न च दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्॥
कालान्तर में वे मोहवश में पड़ गईं, इससे उनका धर्म नष्ट हो गया, लोभ ने उन्हें दबाया। धर्मनाश से देवताओं को चिन्ता हुई और वे भगवान् (विष्णु) के पास गये और बोले कि मनुष्यों में जो सर्वश्रेष्ठ हो उसका आप हमें निर्देश करें। इस पर भगवान् ने विरजाः नामक मानस पुत्र की सृष्टि की। ~~मनुष्यों में सर्वश्रेष्ठ होने से~~ उसकी राजा बनने की प्रवृत्ति नहीं थी पर उसके वंशधरों ~~[illegible]~~ में राजा बने। यहीं से राजा की प्रथा प्रारम्भ हुई।
राजधर्मों का उपदेश देते देते भीष्म युधिष्ठिर से कहते हैं कि राजधर्मों का नवनीत है प्रजा की रक्षा — एतद्धि राजधर्माणां नवनीतं युधिष्ठिर। इस नवनीत के उपाय हैं — गुप्तचरों की नियुक्ति, समय पर बिना मात्सर्य के दान, सज्जनों को अपनी [illegible], शूरता, दक्षता, सत्यभाषण, प्रजा का हितचिन्तन, अनुकूल उपायों से शत्रुपक्ष का भेदन, कार्य में अभेद, कोश वृद्धि, पुरगुप्ति, प्रतिकार, नागरिकों पर वाणिज्यादि के कर [illegible], साधनहीनों के अधिकारों को ~~[illegible]~~ [illegible], उन लोगों पर नियन्त्रण लगाते रहना जो [illegible] कर सकते हों, सब के साथ निश्छल व्यवहार करते हुए भी दूसरे को परखते रहना, नीति के अनुसार [illegible] और जनता में उद्योग और उन्नति हो ना जो कि राजधर्म का [illegible] है [illegible] सम्भव [illegible]।

दर्शनों के समन्वय का प्रयास भी महाभारत में किया गया है। शान्तिपर्व अध्याय २०४ में कहा है कि सांख्य वेत्ता प्रकृति को जगत् का कारण मान कर स्थूल सूक्ष्म के क्रम से खोज करते हुए समस्त प्रपञ्च का चिदात्मा में लय कर साक्षात्कार का अनुभव प्राप्त करते हैं। इस वचन के द्वारा महाभारतकार ने सांख्य और योग की वास्तविकता को एक करने का प्रयत्न किया है। एवमेव अध्याय ३०३ में सांख्यों के महत्त्व और योग के माहात्म्य का ब्रह्मा अथवा विरञ्चि या हिरण्यगर्भ से मेल मिलाया गया है—

महानिति च योगेषु विरञ्चिरिति चाप्यजः।
सांख्ये च पठ्यते योगे नामभि बहुधात्मकः॥

महाभारत का शान्तिपर्व मानो गागर में सागर है। भारतीय जनजीवन की आचार संहिता है तत्त्वज्ञान का अगाध उत्स है। अन्य पर्वों की अपेक्षा इसी में इसकी विशेषता है।

गृह्यसूत्रों में शिक्षा

-- डा० सत्यव्रत --

भारतीय वाङ्मय के सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं वेद। ये हैं -- ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। प्रत्येक वेद के अपने-अपने ब्राह्मण ग्रन्थ हैं। जहां वेद की भिन्न भिन्न शाखाएं हैं वहां तदनुसार भिन्न-भिन्न ब्राह्मण ग्रन्थ है। ऋग्वेद के ब्राह्मण ग्रन्थ है -- ऐतरेय और कौषीतकि, यजुर्वेद के तैत्तिरीय और शतपथ, सामवेद के ताण्ड्य अथवा पञ्चविंश, तलवकार एवं छान्दोग्य और अथर्ववेद का गोपथ। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञानुष्ठान का विस्तृत वर्णन है। इसके अतिरिक्त इनमें कतिपय पुरातन आख्यान एवं आख्यान शब्दों की व्युत्पत्तियां भी हैं। ब्राह्मण वाङ्मय के तीन खण्ड हैं (१) ब्राह्मण, (२) आरण्यक, (३) उपनिषद्। यह तो हुआ मुख्य वैदिक साहित्य। इसके अतिरिक्त वेदाङ्ग साहित्य भी है जिसका वैदिक वाङ्मय को समझने की दृष्टि से अत्यधिक महत्व है। वेदाङ्ग छः हैं। एक प्राचीन कारिका में इनका परिगणन इस प्रकार किया गया है :

> शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं ज्योतिषां गतिः।
> छन्दोविचितिरित्येष षडङ्गो वेद उच्यते ।।

इन छः अङ्गों में द्वितीय स्थान पर उल्लिखित कल्प से उन कल्पसूत्रों से अभिप्राय है जो ब्राह्मण काल के अतिविस्तृत यज्ञ यागादि के वर्णन को संक्षेप में प्रस्तुत करने के लिए रचे गये थे। कल्पसूत्र दो प्रकार के हैं -- श्रौत सूत्र और स्मार्तसूत्र। स्मार्त सूत्रों के दो भेद हैं -- गृह्य-सूत्र और धर्म सूत्र। श्रौत सूत्र का अर्थ है श्रुति से सम्बद्ध सूत्र। इनमें विविध अग्नियों के आधान, इष्टि, याग आदि का वर्णन है। धर्मसूत्रों में धार्मिक नियमों, प्रजा व राजा के कर्तव्य और अधिकार आदि का निरूपण है। गृह्यसूत्रों में प्रत्येक हिन्दू गृहस्थ के लिए आवश्यक अनुष्ठान, आचार व यागादि का वर्णन है। इनमें ही सोलह संस्कार सविस्तार वर्णित हैं। ये गृह्य-सूत्र भारतीय घरेलू जीवन एवं रीतिरिवाज आदि के परिचय में बहुत सहायक हैं। ब्राह्मणों की तरह ही प्रत्येक वेद के शाखा भेद से अनेक गृह्य-सूत्र हैं। ऋग्वेद के गृह्यसूत्र हैं -- शाङ्खायन गृह्यसूत्र, आश्वलायन गृह्यसूत्र,

साम्बव्य गृह्यसूत्र और कौषीतकि गृह्यसूत्र , सामवेद के गृह्यसूत्र हैं -- गोभिलगृह्यसूत्र , खादिर गृह्यसूत्र और जैमिनीय गृह्यसूत्र, शुक्लयजुर्वेद का गृह्यसूत्र है -- पारस्कर गृह्यसूत्र, कृष्णयजुर्वेद के सात गृह्यसूत्र हैं जिनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं आपस्तम्ब और वैखानस गृह्यसूत्र हैं और अथर्ववेद का गृह्यसूत्र है -- कौशिक गृह्यसूत्र । इन गृह्यसूत्रों में उपनयन संस्कार, ब्रह्मचारी का गुरुगृह में विद्याध्ययन, उसका गुरु के प्रति कर्तव्य, विद्यासमाप्ति पर समावर्तन संस्कार आदि का सविस्तार वर्णन है, जिससे उस समय की शिक्षा-पद्धति का परिचय मिल जाता है ।

गृह्यसूत्रों के अनुसार बालक की शिक्षा का आरम्भ उपनयन अथवा विद्यारम्भ संस्कार से होता है । इस प्रकार का विधान है कि यदि ब्राह्मण बालक आठ बरस का हो (ये आठ बरस गर्भाधान से भी लिए जा सकते हैं), क्षत्रिय बालक ग्यारह बरस का और वैश्य बालक बारह बरस का तो उसका उपनयन होना चाहिए । सम्भवत: आयु के इन नियमों का पालन ~~सर्वथा अनिवार्य नहीं था~~ बहुत कठोरता से नहीं किया जाता था । पारस्कर गृह्यसूत्र में भिन्न-भिन्न वर्णों के बालकों के लिए तत्तदायु का निर्देश करने के बाद 'यथामङ्गलं वा' भी कहा है जिससे स्पष्ट है कि उपनयन आगे पीछे भी हो सकता था । पर प्राय: आयु के इन नियमों का पालन किया ही जाता था । उपनयन का आरम्भ ब्राह्मण भोजन से होता था । तदनन्तर बालक को नये उजले वस्त्र पहिनाये जाते थे, मेखला उसे बांधने को दी जाती थी और अपने वर्ण के अनुसार, ब्राह्मण को पलाश का, क्षत्रिय को बिल्व का और वैश्य को उदुम्बर का दण्ड धारण करने के लिए दिया जाता था । तब गुरु आपो हिष्ठ इत्यादि मन्त्रोच्चारण कर उसकी अन्जलि में अपनी अन्जलि से जल उंडेल उसे सूर्य दर्शन करवाता था और उसके हृदय का स्पर्श कर इस मन्त्र का उच्चारण करता था --

> मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनु चित्तं ते अस्तु ।
> मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिस्त्वा नियुनक्तु मह्यम् ।।

मैं अपने व्रत अर्थात् नियमपूर्वक आचार मे तेरे हृदय को धारण करता हूं, मेरे चित्त के अनुकूल तेरा चित्त हो, एक मन से मेरी वाणी को सुन, बृहस्पति तुझे मेरे लिये नियुक्त करे । यह है वह मन्त्र जिसके द्वारा गुरु और

शिष्य एक दूसरे को एक ऐसे घनिष्ठ सम्बन्ध से जोड़ लेते हैं जो जीवन भर बना रहता है। गुरु के हृदय की धड़कन शिष्य के हृदय की धड़कन बन जाती है। गुरु विद्यारम्भ करवाने से पहले ही उसे समझा देता है -- मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु तेरा चित्त मेरे चित्त के अनुकूल हो। इसके पश्चात् गुरु उससे पूछता है 'कस्य ब्रह्मचार्यसि' तू किसका ब्रह्मचारी है ? शिष्य कहता है -- 'भवतः', आपका। इस पर गुरु उसे कहता है कि तू इन्द्र का ब्रह्मचारी है, अग्नि तेरा आचार्य है, मैं तेरा आचार्य हूं -- इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यसि अग्निराचार्यस्तवाहमाचार्यस्तव। तब गुरु उस शिष्य रूपी थाती की अरिष्टि अर्थात् सुरक्षा के लिए उसे प्रजापति सविता, जल, औषधियों, द्यावापृथिवी एवं समस्त देवताओं अथवा समस्त भूतों को समर्पण कर देता है -- प्रजापतये त्वा द्यावापृथिवीभ्यां त्वा परिददामि, विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः परिददामि सर्वेभ्यस्त्वा भूतेभ्यः परिददाम्यरिष्ट्या इति। तब अग्नि की प्रदक्षिणा कर गुरु और शिष्य दोनों ही बैठ जाते हैं। गुरु उस समय उसे उपदेश देता है -- स शास्ति ब्रह्मचार्यसि कर्मकुरु, मा दिवा सुषुप्था, वाचं यच्छ, समिधमाधेहि, तू ब्रह्मचारी है, काम करते रहना, दिन में मत सोना, वाणी पर नियन्त्रण रखना, हवन आदि करते रहना। उपनयन के पश्चात् बालक के लिए भिक्षाटन का विधान है। भिक्षा लाकर उसे गुरु को सौंपनी होती है। इस प्रकार उपनयन संस्कार सम्पन्न होने पर ब्रह्मचारी कठोर जीवन व्यतीत करता हुआ विद्योपार्जन करता है। भिक्षावृत्ति उसके जीवन का अभिन्न अङ्ग है। मधुमांस से उसे दूर रहना होता है। शय्यादि पर न सोकर वह भूमि पर ही शयन कर सकता है। स्त्री गमन, असत्यभाषण, किसी के द्वारा न दी गई चीज़ को ले लेना जैसे कुकृत्यों से दूर रह, दण्ड धारण, अग्न्याधान, एवं गुरु सेवा में लीन रह कर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना उसके लिए आवश्यक है। --

दण्डधारणमग्निपरिचरणं गुरुशुश्रूषा भिक्षाचर्या मधुमांसमज्जनोपर्यासन-स्त्रीगमनानृतादत्तादानानि वर्जयेदष्टचत्वारिंशद्वर्षाणि वेद ब्रह्मचर्यं चरेद्द्वादश द्वादश वा प्रतिवेदं यावद्ग्रहणं वा। अड़तालीस वर्ष तक वेद-ब्रह्मचर्य का पालन करने का विधान है, अथवा १२ वर्ष प्रतिवेद के हिसाब

से अथवा जितने समय में वेद सीख लिया जाय उतने समय तक ही । वेदाध्ययन पूर्ण हो जाने पर ब्रह्मचारी स्नातक कहलाता है और समापन संस्कार के पश्चात घर आने की उसे अनुमति होती है । स्नातक तीन प्रकार के होते हैं -- विद्या स्नातक, व्रत स्नातक और विद्याव्रत स्नातक । जो वेदाध्ययन समाप्त कर पर व्रत को समाप्त न कर लौट आता है उसे विद्यास्नातक कहा जाता है --

समाप्य वेदमसमाप्य व्रतं यः समावर्तते स विद्यास्नातकः, जो व्रत को समाप्त कर पर वेद को समाप्त न कर लौट आता है वह व्रतस्नातक है -- समाप्य व्रतमसमाप्य वेदं यः समावर्तते स व्रतस्नातकः, जो दोनों को समाप्त कर लौटता है वह विद्याव्रतस्नातक है -- उभयं समाप्य यः समावर्तते स विद्याव्रतस्नातकः ।

विद्या के विषय में प्राचीन भारतीयों का आदर्श था कि वही विद्या वास्तव में विद्या है जो विमुक्ति अर्थात् मोक्ष का साधन है -- सा विद्या या विमुक्तये । ब्रह्मचारी को केवल अक्षरज्ञान कराना ही प्राचीन शिक्षा पद्धति का उद्देश्य नहीं था । सम्यक् रूप से उसका चारित्रिक विकास भी उसका लक्ष्य था । ब्रह्मचारी का त्यागमय कठोर जीवन इसी उद्देश्य की पूर्ति को इङ्गित करता है । प्रातः सायं सन्ध्या-पूजा के अतिरिक्त भी ऐसे अनेक व्रत हैं जिनका पालन उसे करना पड़ता है । व्रत उसके विद्यार्थी जीवन के अभिन्न अङ्ग हैं । ये व्रत हैं -- शुक्रिय, शाक्वर, व्रातिक, औपनिषद एवं आदित्य । विद्यार्थी के पाठ्यक्रम में श्रुति और स्मृति दोनों ही हैं । उस समय के विद्यार्थी समुदाय में वादविवाद-प्रतियोगिताओं का भी चलन था । गृह्यसूत्रों में उल्लिखित संवादाभिजय का संभवतः यही अभिप्राय है । उस समय की शिक्षा पद्धति में स्मृति शक्ति पर भी विशेष बल दिया जाता था । पारस्कर गृह्यसूत्र में वेद के प्रत्येक पाठ का प्रारम्भ एक विशेष अनुष्ठान से बताया गया है जिसमें विद्यार्थी ने जो अब तक पढ़ा है वह भूले नहीं इसके लिये प्रार्थना की जाती है ।

विद्योपार्जन के साथ साथ ब्रह्मचारी के शारीरिक विकास की ओर भी बहुत ध्यान रखा जाता था । ब्रह्मचारी अग्नि से विनती करता है -- हे अग्नि मेरे शरीर में जो कमी है उसे पूरा कर -- अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृण । स्वास्थ्य के विषय में सचेत ब्रह्मचारी की प्रार्थना है -- अङ्गानि मे आप्यायन्ताम् -- मेरे अङ्ग भरे रहें, हृष्ट पुष्ट रहें ।

प्राचीन शिक्षा पद्धति की सबसे बड़ी विशेषता थी गुरु और शिष्य का निकट सम्बन्ध । उस समय का शिष्य अन्तेवासी होता था, आचार्य के पास रह कर उसके आचार-व्यवहार से वह आचार-व्यवहार सीखता था । गुरु की सेवा में लीन रह नाना व्रतों का पालन करते हुए स्वच्छ तपोमय जीवन व्यतीत करते हुए वह विद्योपार्जन करता था ।

जाबाल ऋषि

(डा० सत्यव्रत)

भारत में प्राचीन काल से ही यह मान्यता रही है कि ज्ञान वेद के रूप में सर्वप्रथम अवतीर्ण हुआ था और ऋषियों ने ही इदम् प्रथमतया इसका साक्षात्कार किया था । ऋषि शब्द का अर्थ ही है -- 'ऋषति प्राप्नोति सर्वान् मन्त्रान् ज्ञानेन' अर्थात् ऋषि वह है जो सब मन्त्रों का ज्ञान-चक्षु से साक्षात्कार करता है । इन ऋषियों की महिमा अपार है । ऋषि शब्द की एक और व्युत्पत्ति भी है --'ऋषति संसार-पारम् इति ऋषि:' ऋषि इसलिये ऋषि है क्योंकि वह संसार के पार पहुंच जाता है । ऐहिक वस्तुओं तक ही उसकी दृष्टि सीमित नहीं रहती । 'यो बुद्धे: परतस्तु स:' -- बुद्धि से भी जो परे है उसको भी वह साक्षात् कर लेता है । यह भारतभूमि की विशेषता रही है कि इस पर ऐसे तत्वज्ञानी ऋषि समय-समय पर जन्म लेते रहे हैं जिन्हें अतीत और अनागत, पर और अवर सभी हस्तामलकवत् दीखते रहे हैं, धर्म जिन्हें प्रत्यक्ष रहा है, जो कुछ भी जानने योग्य है वह सब उन्हें ज्ञात रहा है, इस विश्व में यच्च यावच्च पदार्थ हैं उनका वास्तविक स्वरूप सदैव उनकी ज्ञान-चक्षु में बसा रहा है । महाभाष्यकार पतञ्जलि ने इन्हीं ऋषियों को परिलक्षित कर भाव-विभोर हो अपनी अमर कृति महाभाष्य में कहा था -- साक्षात्कृत धर्माण ऋषयो बभूवु:, परावरज्ञा:, विदित-वेदितव्या अधिगतया याथतथ्या: । इन्हीं ऋषियों की पावन परम्परा में हुए ऋषि जाबाल जिनका संस्कृत साहित्य में उल्लेख यत्र तत्र पाया जाता है ।

ऋषि जाबाल के विषय में यह प्रसिद्धि है ऋषि कन्या जबला के पुत्र होने के कारण उनका नाम जाबाल पड़ा । साहित्य में जाबालि नाम से भी उनका उल्लेख पाया जाता है । उनके पिता का नाम अज्ञात है । ब्रह्मवैवर्तपुराण में अनेक सुप्रसिद्ध ऋषियों के नामों के साथ उनके नाम का उल्लेख है । प्रसंग है सरस्वती के कवच का । भृगु ब्रह्मा से कहते हैं -- हे प्रभु ! आप मुझे सरस्वती का कवच बताइये --

ब्रह्मन् ब्रह्मविदां श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञान विशारद ।

सर्वज्ञ सर्वजनक सर्वपूजकपूजित ।।

सरस्वत्याश्च कवचं ब्रूहि विश्वजयं प्रभो ।

अयातमाममन्त्राणां समूहो यत्र संयुत: ।।

इस पर ब्रह्मा उन्हें कहते हैं कि मैं तुम्हें वह कवच बताऊंगा जोकि अतीव गोपनीय है और जिसे धारण कर ऋष्यशृंग, भरद्वाज, आस्तीक, देवल, जैगीषव्य और जाबालि सर्ववन्दित हुए --

शृणु वत्स प्रवक्ष्यामि कवचं सर्वकामदम् ।

श्रुतिसारं श्रुतिसुखं श्रुत्युक्तं श्रुतिपूजितम् ।।

ऋष्यशृंगो भरद्वाजश्चास्तीको देवलस्तथा ।

जैगीषव्योऽथ जाबालिर्यद्धृत्वा सर्वपूजिता: ।।

इसी (ब्रह्मवैवर्त) पुराण में एक अन्य स्थान पर भी जाबाल का उल्लेख है । प्रसंग है मालावती-ब्राह्मण-संवाद । मालावती गन्धर्वराज चित्ररथ की कन्या है । उसके पति उपबर्हण की अचानक मृत्यु हो जाती है । इस पर मालावती शोक से व्याकुल हो उठती है । इस आकस्मिक आघात के लिये वह देवताओं को दोषी ठहराती है और उन्हें शाप देने को ही होती है कि एक ब्राह्मण बालक उधर से आ निकलता है और उसे रोकता है । वह ऊंची ऊंची ज्ञान की बातें करता है । वास्तव में वह विष्णु ही है जो ब्राह्मण बालक का रूप धर उसके पास आया है । मालावती और ब्राह्मण का वार्तालाप प्रारम्भ होता है । इसी वार्तालाप में ही मालावती ब्राह्मण बालक से पूछती है कि प्राणियों में व्याधि के निदान और उनकी चिकित्सा के उपाय क्या हैं । ब्राह्मण बालक कहता है कि आयुर्वेद वह शास्त्र है जिसमें व्याधियों के निदान और चिकित्सा का वर्णन है । प्रजापति ने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद इन चारों वेदों को देखकर और इनके अर्थ पर सम्यक् विचार कर आयुर्वेद की रचना की थी --

ऋग्यजु: सामाथर्वाख्यान्दृष्ट्वा वेदान् प्रजापति:।

विचिन्त्य तेषामर्थं चैवायुर्वेदं चकार स: ।।

यह आयुर्वेद पंचम वेद था । इस आयुर्वेद से भास्कर ने स्वतन्त्र संहिता रची और अपने शिष्यों को पढ़ाई । ये शिष्य सोलह थे । इन्होंने उस स्वतन्त्र संहिता के आधार पर अपनी अपनी संहिताएं रचीं । इन सोलह शिष्यों के नाम थे --

धन्वन्तरिर्दिवोदासः काशीराजोऽश्विनीसुतौ ।
नकुलः सहदेवोऽर्किश्च्यवनो जनको बुधः ।।
जाबालो जाजलिः पैलः करथोऽगस्त्य एव च ।
एते वेदांगवेदज्ञाः षोडश व्याधिनाशकाः ।।

वाल्मीकि रामायण के अयोध्याकाण्ड में भी जाबाल अथवा जाबालि का वर्णन है । जब भरत ज्येष्ठ भ्राता राम को अयोध्या में लौट चलने का आग्रह करने के लिये वन में जाते हैं तो उनके साथ वसिष्ठ, जाबालि आदि ऋषि भी रहते हैं । भरत के बहुत अनुनय विनय करने पर भी राम उसकी बात नहीं मानते । तब जाबालि उन्हें समझाने का प्रयत्न करते हैं --

आश्वासयन्तं भरतं जाबालिर्ब्राह्मणोत्तमः ।
उवाच रामं धर्मज्ञं धर्मापेतमिदं वचः ।।

वे कहते हैं कि कौन किसका बन्धु है, कौन किसका माता पिता । जीव अकेला ही आता है और अकेला ही चला जाता है । इसलिये पागल की तरह माता-पिता में बहुत आसक्ति नहीं होनी चाहिये । जाबालि राम से कहते हैं कि अयोध्या एक-वेणी-धरा स्त्री की तरह तुम्हारी प्रतीक्षा में है, चलो अपना अभिषेक कराओ, और विभिन्न भोगों का उपभोग करो । राम उनके वचनों से क्षुब्ध हो उठते हैं । वे कहते हैं कि मेरे पिताश्री ने बहुत अनुचित कर्म किया कि आप जैसे विषमबुद्धिनास्तिक को अपना पुरोहित बना लिया । जब जाबालि राम की धर्म पर आस्था को अडिग पाते हैं तो कहते हैं कि मैं नास्तिक नहीं हूं, नास्तिकों की बात नहीं कहता हूं, नास्तिक हूं भी नहीं, मैं समय देख कर आस्तिक था और समय देख कर नास्तिक भी हो सकता हूं । आपको लौटाने के लिये और प्रसन्न करने के लिये ही मैंने नास्तिक वाणी का उच्चारण किया था --

न नास्तिकानां वचनं ब्रवीम्यहं न नास्तिकोऽहं न च नास्ति किंचन ।
समीक्ष्य कालं पुनरास्तिकोऽभवं भवेय काले पुनरेव नास्तिकः ॥
स चापि कालोऽयमुपागतः शनैर्यथा मया नास्तिकवागुदीरिता ।
निवर्तनार्थं तव राम कारणात्प्रसादनार्थं च मयैतदीरितम् ॥

राम को क्रोध के वश में देख वसिष्ठ उनसे कहते हैं कि जाबालि भी संसार की गति और अगति को जानते हैं, उचित और अनुचित का उन्हें ज्ञान है, केवल आपको लौटा ले चलने के लिये ही उन्होंने ये शब्द कहे थे --

क्रुद्धमाज्ञाय रामं तु वसिष्ठः प्रत्युवाच ह ।
जाबालिरपि जानीते लोकस्यास्य गतागतिम् ॥
निवर्तयितुकामस्तु त्वामेतद्वाक्यमब्रवीत् ॥

उत्तरवर्ती संस्कृत साहित्य में बाण की कादम्बरी में जाबालि का उल्लेख है । वहां उनके आश्रम का अति रमणीय वर्णन है । बाण ने उसे एक दूसरा ब्रह्मलोक -- अपरमिव ब्रह्मलोकम् -- कहा है । उस समस्त पावनताओं के निधान आश्रम में निवास करने वाले हैं महामुनि जाबालि जिन्हें बाण ने `महातपा:` कहा है -- जाबालिर्नाम महातपा मुनिः प्रतिवसति स्म । उन महातपाः मुनि का वर्णन करते समय कवि आत्म विभोर हो उठते हैं । शुक के माध्यम से वे उनके चरणों में इन शब्दों में अपनी श्रद्धा के प्रसून अर्पित करते हैं --

दिवसमिवोद्यदर्कबिम्बभास्वरमुखम्, शरत्कालमिव क्षीणवर्षम्, शान्तनुमिव प्रियसत्यव्रतम्, अम्बिकाकरतलमिव रुद्राक्षवलयग्रहणनिपुणम्, शिशिरसमयसूर्यमिव कृतोत्तरासंगम्, शून्यनगरमिव दीनानाथविपन्नशरणम्, पशुपतिमिव भस्मपाण्डुरोमन्मालाश्लिष्टशरीरं भगवन्तं जाबालिमपश्यम् ।

महर्षि जाबालि के पुत्र हैं हारीत जोकि मातंग नामक भील के द्वारा माता-पिता के मार दिये जाने पर भूमि पर गिरे प्यास से तड़पते शुकशावक को अपने पिताश्री ऋषि जाबालि के पास आश्रम में ले आते हैं । ऋषि दिव्य-चक्षु से उस शुकशावक की सारी बात जान पुत्र से कहते हैं कि यह अपने ही अनाचार का फल भोग रहा

है । वैसे यह बहुत ज्ञानी है । इसे अपना पूर्वजन्म पूर्ण स्मरण है । शुकशावक ऋषि की भव्य आकृति को देख मुग्ध हो उठता है और उन्हीं के आश्रम में रहने लगता है ।

ऋषि जाबालि का संस्कृत साहित्य में विशेष स्थान है । मनुस्मृति के सुप्रसिद्ध टीकाकार कुल्लूक भट्ट ने स्मृतिकार के रूप में भी उनका उल्लेख किया है । वे वास्तव में एक महान् विभूति थे । बाण ने उनके विषय में ठीक ही कहा है कि वे सभी तेजस्विजनों में मूर्धन्य हैं -- सर्वतेजस्विनामयं चाग्रणी: ।।

संस्कृत साहित्य में महात्मा गांधी

(डा० उषा सत्यव्रत)

संस्कृत की एक प्रसिद्ध उक्ति है : `युगे युगे सत्पुरुषा भवन्ति ' प्रत्येक युग में सत्पुरुष जन्म लेते हैं। जब सबसे अधिक उनकी आवश्यकता हो तभी उनका जन्म होता है। इन्हीं सत्पुरुषों की पावन परम्परा में हुए महात्मा गान्धी जिन्होंने पराधीनता के अभिशाप से ग्रस्त दीन-हीन भारत राष्ट्र में नव-चेतना का संचार किया, उसमें नये प्राण फूंके, उसकी सोई हुई आत्मा को जगाया। उनके नेतृत्व में देश ने नई करवट ली और अदम्य साहस के साथ विदेशियों को निकाल बाहर किया। बिना युद्ध के, बिना द्वेष के, बिना रक्तपात एवं नर-संहार के देश को स्वतन्त्र कराने का महात्मा गान्धी का यह अपूर्व प्रयास था। अहिंसा के देवता ने हिंसा के दानव पर विजय प्राप्त कर विश्व के सामने एक नया उदाहरण प्रस्तुत किया। इसमें क्या आश्चर्य कि विश्व इस महामानव के अलौकिक कार्यों पर मुग्ध हो गया। विश्व की लगभग प्रत्येक भाषा में इनकी अद्भुत जीवन-गाथा का गान किया गया, इनके चमत्कारी कार्यों का वर्णन किया गया। संस्कृत भाषा भी इससे अछूती न रही। इस चिर नवीन भाषा के माध्यम से भी भारत के अनेक साहित्यकारों ने अपनी श्रद्धांजलि इस महामानव को अर्पित की।

संस्कृत में महात्मा गान्धी पर लिखा जाने वाला सर्वप्रथम ग्रन्थ था पण्डित चारुदेव शास्त्री का श्री गान्धि चरितम्, जो १९३१ में लाहौर से प्रकाशित हुआ था। इसमें शास्त्री जी ने ललित संस्कृत में महात्मा गान्धी का जीवनचरित वर्णन किया है। भाव और शैली इन दोनों ही दृष्टियों से ग्रन्थ बहुत उत्तम बन पड़ा है। इसमें बाण के गद्य की पद्धति पर नमक सत्याग्रह तक की महात्मा गान्धी के जीवन की घटनाओं का वर्णन है। बीच बीच में शास्त्री जी ने महात्मा गान्धी के कतिपय महत्वपूर्ण भाषणों का संस्कृत-रूपान्तर भी प्रस्तुत किया है जिससे ग्रन्थ की उपादेयता बहुत बढ़ गई है। १९०५ में महात्मा गान्धी ने दक्षिण अफ्रीका के नटाल नामक स्थान में एक विशाल सभा का आयोजन किया था। यही वह सभा थी जहाँ कि उन्होंने सत्याग्रह के स्वरूप को स्पष्ट किया था। उन्होंने कहा था --

प्रियबान्धवा:,

आत्मसमान गोपायितुं चरितोत्कर्षं चोपपादयितुं सत्याग्रहादृते नास्तिसाधनान्तरम् । को ऽयं सत्याग्रहो नाम पदार्थ: । यतो युष्मासु मध्ये बहव: सत्याग्रहस्वरूपं न परिचिन्वन्ति अतस्तदिह समासतो ऽनुशास्मि । सत्याग्रह आत्मबले प्रतितिष्ठति । आत्मबलमिति विदितो ऽयमर्थ: । आत्मनो बलमात्मबलमिति हि प्रतीति: । आत्मा सत्यश्चिद्रूपश्च । शरीरमसत्यमचेतनंच । सत्याग्रह एवं रूपस्यात्मबलस्य विजृम्भण प्रकार: ।

साबरमती नदी के तीर पर सत्याग्रह आश्रम की स्थापना के अवसर पर महात्मा गान्धी ने कहा था कि जब तक हम धार्मिक नहीं होंगे तब तक हम कुछ नहीं कर सकेंगे । संसार में यदि सफलता प्राप्त करनी हो तो धर्म का पालन करना होगा । यह आश्रम धर्मपालन में समुचित सहायता करेगा एवं सेवा धर्म के उपदेश देगा -- यावद्वयं धार्मिका न भवामस्तावत्किमपि कर्तुं नालास्म: । यदि संसारे साफल्यमिष्यते तर्हि धर्म: प्रचेतव्य: । अयमाश्रमो धर्मप्रचये समुचितं साहायकं करिष्यति, भूयसा तु सेवाधर्ममुपदेक्ष्यतीति ।

श्री गान्धि-चरितम् के पश्चात् की महात्मा गान्धी पर दो कृतियां हैं सत्याग्रहगीता और उत्तरसत्याग्रहगीता जोकि महाराष्ट्र की सुप्रसिद्ध लेखिका श्रीमती क्षमाराव ने लिखी है । सत्याग्रह गीता के अब तक चार संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं । सर्वप्रथम यह पैरिस से १९३२ में प्रकाशित हुई थी । इसमें सरल अनुष्टुप छन्द में ६५८ श्लोक हैं । यह भगवद्गीता की तरह १८ अध्यायों में विभक्त है । इसके तृतीय और चतुर्थ संस्करण १९५७ और १९५८ में प्रकाशित हुए थे जिनमें मूल संस्कृत श्लोकों के साथ हिन्दी अनुवाद दिया गया था । इसमें सत्याग्रह आन्दोलन के प्रारम्भिक कतिपय वर्षों की घटनाओं का वर्णन है । उत्तर सत्याग्रह गीता में सत्याग्रह आन्दोलन के बाद के वर्षों की घटनाएं वर्णित हैं -- लार्ड इरविन के भारत में आने और महात्मा गान्धी से बातचीत आरम्भ करने से लेकर बम्बई में महात्मा गान्धी और जिन्ना की भेंट तक । इसमें सैंतालीस अध्याय हैं । छन्द अनुष्टुप् ही है । ग्रन्थान्त में संस्कृत श्लोकों का अंग्रेज़ी अनुवाद भी दिया गया है । श्रीमती क्षमाराव संस्कृत की सुप्रसिद्ध कवियित्री हैं -- शंकरजीवनाख्यानम्, मीरा लहरी आदि काव्यों की लेखिका । इनकी भाषा सरल एवं प्रांजल है । जो कुछ भी वे लिखती हैं उसमें अपना हृदय उंडेल के रख देती हैं । सत्याग्रहगीता

और उत्तरसत्याग्रहगीता में युगपुरुष महात्मा गान्धी के प्रति उनका श्रद्धाभाव मुखर हो उठा है। महात्मा का लक्षण करते हुए उन्होंने सत्याग्रहगीता के प्रथम अध्याय में कहा है --

वीतरागो जितक्रोध: सत्याहिंसाव्रतो मुनि: ।
स्थितधीर्नित्यसत्वस्थो महात्मा सो भिधीयते ।।

महात्मा गान्धी विषयक गीताओं के प्रसंग में १९४९ में प्रकाशित श्री एस० एन० ताडपत्रीकर कृत गान्धिगीता का भी उल्लेख किया जा सकता है। इसमें २४ अध्यायों में भारतीय, हिन्द-माता, महात्मा गान्धी आदि के संवाद के रूप में तत्तद्विषयों के प्रति महात्मा गान्धी की विचारधारा का प्रतिपादन है। संस्कृत में गान्धी दर्शन का प्रतिपादक यह अपूर्व ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन के आठ वर्ष पश्चात् स्वनामधन्य श्री चिन्तामणि द्वारकानाथ देशमुख ने गान्धी सूक्तिमुक्तावली के नाम से महात्मा गान्धी की १०० चुनी हुई सूक्तियों का मूल अंग्रेजी के साथ संस्कृतानुवाद प्रकाशित किया था। महात्मा गान्धी के जीवनचरित विषयक ग्रन्थों में श्री भगवदाचार्यकृत १९३८ में प्रकाशित २९ सर्गों के महात्मा गांधी के जन्म से ६ प्रान्तों में कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों की स्थापना तक के जीवन चरित एवं जीवनदर्शन के प्रतिपादक भारत-पारिजात नामक ग्रन्थ के उल्लेख के बिना महात्मा गान्धी के जीवन चरित विषयक संस्कृत-वाङ्मय का विवरण अधूरा रहेगा। महात्मा गान्धी का जीवन चरित अब भी संस्कृत कवियों के लिए आकर्षण का केन्द्र बना हुआ है। इस पर की नूतनतम कृति है श्री साधुशरण मिश्र का मनोहर काव्यमय शैली में लिखा गया १९ सर्गों का १९६३ में प्रकाशित श्री गान्धिचरितम्। इसमें जन्म से निर्वाण तक का महात्मा गान्धी का सम्पूर्ण जीवन चरित वर्णित है। इनके अतिरिक्त महात्मा गान्धी पर संस्कृत में भट्टमथुराप्रसाद दीक्षित ने श्री गान्धिविजयनाटकम् नाम से एक नाटक भी लिखा है। किंच दीक्षित जी के ही भारतविजयनाटकम्, श्री पुल्लेल, रामचन्द्रुडु के सुसंहतभारतम्, श्री सुदर्शन शर्मा पाठी के करुणापारिजातम् आदि नाटकों में भी महात्मा गान्धी के जीवन की कतिपय महत्त्वपूर्ण घटनाओं का उल्लेख है। इधर हाल ही में गान्धीस्मारकनिधि, नई दिल्ली एवंच भारतीय विद्याभवन बम्बई के संयुक्त तत्त्वावधान में श्री होसकेरे नागप्पा शास्त्री ने 'सत्यशोधनम्' शीर्षक से महात्मा गान्धी की आत्मकथा The Story of My Experiments with Truth का संस्कृतानुवाद प्रकाशित किया है।

बृहत्परिमाण ४०० पृष्ठों में मुद्रित यह अनुवाद आत्मकथा विषयक संस्कृतानुवादों में अपना विशिष्ट स्थान रखता है ।

महात्मा गान्धी जैसी महान् विभूति का देश से एकाएक उठ जाना समस्त देशवासियों के लिए बहुत दुखदायी घटना थी । इस अवसर पर देश के कोने-कोने से उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित की गईं । संस्कृत के अनेक कवियों ने भी उन्हें श्रद्धा के प्रसून अर्पित किये । इस अवसर की विशेष उल्लेखनीय रचनाओं में हैं डा० राघवन् की `महात्मा` सुषमा काव्य संग्रह में प्रकाशित श्री जी० सी० झाला की श्रद्धांजलि, श्री के० एल० वी० शास्त्री की महात्मविजय: और वी० नारायणन् नायर की महात्मनिर्वाणम् शीर्षक कविताएं ।

संस्कृत साहित्यकार महात्मागांधी के अद्वितीय जीवन एवं अपूर्व दर्शन का वर्णन करने में किसी से पीछे नहीं रहे । देवभाषा के पावन माध्यम से उन्होंने एक महान् व्यक्ति के पावन चरित का गान किया है, उसे अपनी श्रद्धा के प्रसून अर्पित किये हैं । उन्हीं के प्रयत्नों से ही महात्मा गान्धी पर संस्कृत में विशाल वाङ्मय का सृजन हो सका है ।

....

कालिदास के स्त्री पात्र -- शकुन्तला

डा० उषा सत्यव्रत

महाकवि कालिदास का अमर नाटक अभिज्ञानशाकुन्तलम् मानव समाज की एक अमूल्य थाती है, एक अक्षय निधि है । समस्त संस्कृत वाङ्मय में इस नाटक की तुलना का और कोई नाटक नहीं । कहा भी है नाटकों में यदि कोई रम्य नाटक है तो वह शकुन्तला नाटक है -- काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला । यह नाटक जहां नाटकीय कला की दृष्टि से अत्यद्भुत है वहां चरित्र चित्रण की दृष्टि से भी अत्यन्त प्रभावशाली है । इसके पात्र सजीव हैं और इन्हीं के माध्यम से महाकवि का आदर्श मुखरित हुआ है । महाकवि पुरुष थे तो क्या उनका नारी प्रकृति का पर्यवेक्षण अतिसूक्ष्म एवं गहन था । नारी के अन्तस्तल से, उसकी चेतन अवचेतन भावनाओं से वे सम्यक् परिचित थे । उसके मानस की गहराइयों की उन्हें थाह थी । यही कारण था कि शकुन्तला के रूप में वे एक ऐसी नारी का चित्रण कर सके जिसकी अमिट छाप जन मानस पर युग युग तक बनी रहेगी ।

शकुन्तला को कवि ने प्रकृति की पुत्री के रूप में चित्रित किया है । कवि ने उसके लिये ठीक ही कहा है कि वह एक अनसूंघा पुष्प है, अनाघ्रातम् पुष्पम्, नाखूनों से न छिदी कोंपल है, किसलयमलूनं कररुहैः । आश्रम की लताएं उसकी बहिनें हैं, पेड़ पौधे उसके भाई । वह स्वयं ही कहती है -- अस्ति ममापि सोदरस्नेह एतेषु । जब केसर के नन्हें पौधे की कोंपलें हवा से हिलती हैं तो उसे ऐसा लगता है मानों उंगलियों के इशारे से वह उसे अपनी ओर बुला रहा है और वह उधर बढ़ जाती है -- एष वातेरित-पल्लवाङ्गुलीभिस्त्वरयतीव मां केसरवृक्षकः । यावदेनं सम्भावयामि । वनज्योत्स्ना नामक लता को वह अपनी बहिन मानती है । पतिगृह के लिए प्रस्थान करते समय वह अपनी इस लताभगिनी से विदा लेती है । तात, लताभगिनीं वन ज्योत्स्नां तावदा-मन्त्रयिष्ये । वह उससे गले मिलने को कहती है -- वनज्योत्स्ने चूतसङ्गता पि प्रत्यालिङ्ग

मामितो गताभि: शाखाबाहाभि: । चलते चलते कुटिया के पास जब उसे उसकी चिर-परिचित गर्भवती हिरनी दिखाई दे जाती है तो उसके सुखद प्रसव के बारे में उसकी चिन्ता इन शब्दों में मुखर हो उठती है -- तात एषा उटजपर्यन्तचारिणी गर्भमन्थरा मृगवधूर्यदा नघप्रसवा तदा कमपि प्रियनिवेदितारं विसृज, मा इदं विस्मरिष्यसि, हे तात कुटी के पास फिरती हुई गर्भ भार से क्लान्त यह मृगी जब सुख से प्रसव कर ले तो इस प्रिय वृत्तान्त को सुनाने के लिए किसी शुभ समाचार पहुंचाने वाले दूत को मेरे पास भेजिएगा, इसे भूलिएगा मत । आश्रम के पेड़ पौधों और पशुपक्षियों से प्रेम का उसका एक और उदाहरण वह मृगशावक उपस्थित करता है जिसके कुशा के तीक्ष्ण अग्रभाग से छिले हुए मुंह में वह इङ्गुदी का तेल डालती थी और जिसे वह अपने हाथ से श्यामाक (एक प्रकार के जंगली) चावल की मुट्ठियां दे देकर पालती थी । शकुन्तला के पतिगृह के लिए प्रस्थान करने के समय वह बार बार उसका वस्त्र पकड़ कर खींचता है । शकुन्तला समझ नहीं पाती कि कौन उसका वस्त्र खींच रहा है । इस पर महर्षि कण्व उसे कहते हैं कि यह वही मृगशावक है जिसे तुम अपना पुत्र मानती रही हो --

यस्य त्वया वणविरोपणमिङ्गुदीनां
तैलं न्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे ।
श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितको जहाति
सो यं न पुत्र कृतक: पदवीं मृगस्ते ।।

प्रस्थान के समय जब उसको सजाने की आवश्यकता होती है तो उसके योग्य आभरणों को पेड़ पौधों से मांगना नहीं पड़ता, वे उसके स्नेह वश स्वयं उन्हें अर्पित करते हैं, कोई वृक्ष मांगलिक वस्त्र देता है, कोई महावर एवंच अन्य कई वृक्ष अन्य प्रकार के आभूषण--

क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डु तरुणा माङ्गल्यमाविष्कृतं
निष्ठ्यूतश्चरणोपभोग सुभगो लाक्षारस: केनचित् ।
अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थितै-
र्दत्तान्याभरणानि न: किसलयच्छायाप्रतिस्पर्द्धिभि: ।।

शकुन्तला जैसे पेड़ पौधों और पशुपक्षियों से वियोग को सोच दुखी है वैसे ही वे भी --

उद्गलितदर्भकवला मृग्यः परित्यक्तनर्तना मयूराः ।

अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव वनलताः ।।

हिरणियों ने कुशा का ग्रास उगल दिया है, मोरों ने नाचना बन्द कर दिया है, वन लताएं अपने पुराने पत्तों को छोड़ने के बहाने मानों आंसू बहा रही हैं । ऐसा प्रतीत होता है प्रकृति में और शकुन्तला में तादात्म्य है, दोनों एक दूसरे में घुल मिल गई हैं । प्रकृति पुत्री के रूप में शायद ही संस्कृत के अन्य किसी कवि ने किसी नायिका का इस प्रकार का चित्रण किया हो ।

शकुन्तला की कल्पना ही वास्तव में अत्यद्भुत है । ऋषि विश्वामित्र और अप्सरा मेनका से उसका जन्म हुआ है । वह खण्डित तपस्या का मूर्त रूप है । माता से अप्सरा का-सा सुन्दर रूप उसने थाती में पाया है । उसके शारीरिक सौन्दर्य के विषय में दुष्यन्त ने ठीक ही कहा था -- इदं किलाव्याज मनोहरं वपुः । वह इतनी अनिंद्य सुन्दरी है कि वल्कल से भी उसकी शोभा बढ़ती ही है -- इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी । उसमें इतना सौन्दर्य समा गया है कि वह एक अन्य ही स्त्री रत्न सृष्टि प्रतीत होती है -- स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा । फूल के समान लुभावना यौवन उसके अंगों में हिलोरें ले रहा है -- कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु सन्नद्धम् ।

यौवन के साथ साथ काम विकार भी आ ही जाता है । शकुन्तला इस कामविकार से सर्वथा अपरिचित है । पर फिर भी वह जब दुष्यन्त को देखती है तो वह अपने को वश में नहीं रख पाती और काम के वशीभूत हो जाती है -- किं नु खल्विमं दृष्ट्वा तपोवन विरोधिनो विकारस्य गमनीयास्मि संवृत्ता, क्या बात है कि इसे (दुष्यन्त को) देखकर तपोवन विरोधी विकार मुझ में आ गया है । वह कुछ समझ नहीं पाती । प्रवाह में बहती ही जाती है । अपने प्रेमी को वह पत्र भी लिखती है जिसमें वह मन की व्यथा को इन शब्दों में व्यक्त करती है --

तव न जाने हृदयं

मम पुनर्मदनो दिवापि रात्रिमपि ।

निर्घृण तपति बलीय-

स्त्वयि युक्तमनोरथं हृदयम् ।।

हे निर्दय, तुम्हारे हृदय की दशा क्या है यह मुझे मालूम नहीं पर तुझ में रमे मेरे हृदय को तो कामदेव दिन रात सन्तप्त कर रहा है ।

दुष्यन्त के प्रति इतना अनुरक्त होने पर भी गन्धर्व विवाह से पूर्व वह आत्मसमर्पण करना नहीं चाहती । जब दुष्यन्त उसका चुम्बन लेना चाहता है तो वह कहती है -- पौरव रक्ष विनयम्, मदनसन्तप्ता पि न खल्वात्मन: प्रभवामि, पौरव मर्यादा का पालन करो । काम सन्तप्त होने पर भी मेरा अपने पर कोई बस नहीं ।

शकुन्तला पतिगृह में जाने को उत्सुक है, प्रियतम से मिलने को आतुर है, पर महर्षि कण्व की, जिन्होंने उसे पुत्री की तरह पाला है, उसे अत्यधिक चिन्ता है । वह उनसे गले लग कर कहती है आपका शरीर आगे ही तपो नुष्ठान से जर्जर है, आप मेरे लिए अधिक उत्कण्ठित न हूजियेगा -- तपो नुष्ठान पीडितं तातशरीरम् तन्न युक्तं मम कृते तिमात्र-मुत्कण्ठितुम् ।

पतिगृह में जब वह पहुंचती है और शाप के वशीभूत हो जब पति उसे पहिचानने तक से इन्कार कर देता है और उसके पहले की साथ बीती घटनाओं के स्मरण दिलाने पर कहता है कि अपना काम सिद्ध करने वाली स्त्रियां ऐसी ही मीठी मीठी बातों से लोगों को आकृष्ट किया करती हैं तो वह उबल पड़ती है और कहती है --

अनार्य । आत्मनो हृदयानुमानेन पश्यसि, को न्यो धर्मकंचुक प्रवेशिनस्तृणच्छन्न-कूपोपमस्य तवानुकारी भविष्यति -- हे अनार्य जैसा तेरा अपना हृदय है वैसा ही तू सबको समझता है । इस संसार में धर्म के ढोंग का जामा पहिने तृण से ढके हुए कूप की तरह दूसरों को फंसा कर गड्ढे में गिराने वाले तेरे समान और कौन दुष्ट और पापबुद्धि मनुष्य संसार में होगा ?

दुष्यन्त के द्वारा अनादृत, रोती बिलखती, शकुन्तला को जब मेनका मारीच आश्रम में पहुंचा देती है तो वह वहां तपस्विनी का जीवन व्यतीत करने लगती है । कवि ने उसके तप: क्लिष्ट शरीर का दुष्यन्तके मुख से इन शब्दों में वर्णन करवाया है --

वसने परिधूसरे वसाना

नियमक्षाममुखी धृतैकवेणी ।

अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला

मम दीर्घं विरहव्रतं बिभर्ति ।।

मलिन वस्त्र पहिने हुए, व्रतोपवासादि नियमों के पालन से क्षीण और उदास मुख वाली एक चोटी किए हुए शुद्ध शीला शकुन्तला मुझ अत्यन्त निर्दयी के लिए इस प्रकार का विरहव्रत का पालन कर रही है ।

इसी मारीच आश्रम में भरत का जन्म होता है और इन्द्र की सहायता कर स्वर्ग से लौटते हुए राजा का शकुन्तला से मिलन । राजा ने शकुन्तला के साथ कितना ही अन्याय क्यों न किया हो वह है तो भारतीय गृहिणी ही । बरसों के बाद उसी राजा को, जिसने उसे अस्वीकार कर दिया था, देखकर उसके आंसू उमड़ आते हैं और वह केवल इतना ही कह पाती है -- जयत्वार्यपुत्र: । इतना कहकर वह रुक जाती है -- इत्यर्धोक्ते बाष्पकण्ठी विरमति । इन सब आंसुओं में ही सारा अतीत धुल-पुंछ जाता है । शकुन्तला अब पतिव्रती भी है और पुत्रवती भी । अब उसके जीवन में कोई अभाव नहीं रहा है ।

कालिदास उच्छृङ्खल प्रेम के पक्षपाती नहीं नहीं हैं । ऋषिकुमार शार्ङ्गरव के मुख से तो उन्होंने कहला भी दिया है -- एवमप्रतिहतमात्मकृतं चापलं दहति, इस प्रकार अपने द्वारा किया गया अनियन्त्रित चापल सन्ताप उत्पन्न करता है । प्रेम वही स्थायी है जिसकी समस्त मलिनता तपस्या और साधना से धुल चुकी हो । इसी दृष्टि से उन्होंने शकुन्तला का चित्रण किया भी है । एक ओर शकुन्तला का उच्छृङ्खल अनियन्त्रित प्रेम है, दूसरी ओर नियन्त्रित, तपोधौत प्रेम है । महाकवि की सशक्त तूलिका ने शकुन्तला को दोनों ही प्रकार के प्रेम के सन्धिस्थल पर लाकर खड़ा कर दिया है ।

ब्राह्मण ग्रन्थों में जन-जीवन

डा० सत्यव्रत

वैदिक वाङ्मय में ब्राह्मण ग्रन्थों का महत्त्वपूर्ण स्थान है । मन्त्र अर्थात् संहिताएं एवञ्च ब्राह्मण इन दोनों को वेद कहा जाता है -- मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् । यज्ञानुष्ठान का विस्तृत वर्णन इनमें उपलब्ध होता है । इसके अतिरिक्त अनेक आख्यान एवं उपाख्यान, शब्दों की व्युत्पत्ति एवञ्च प्राचीन राजाओं या ऋषियों की कथाएं इनमें मिलती है । ये गद्य में है जबकि ऋग्वेदादि संहिताएं पद्य में हैं । प्रत्येक वेद के अपने-अपने ब्राह्मण हैं । ऋग्वेद के ऐतरेय और कौषीतकि ब्राह्मण, कृष्ण यजुर्वेद का तैत्तिरीय ब्राह्मण, शुक्ल यजुर्वेद का शतपथ ब्राह्मण, सामवेद के जैमिनीय और ताण्ड्य अथवा पञ्चविंश ब्राह्मण एव च अथर्ववेद का गोपथ ब्राह्मण । ब्राह्मण ग्रन्थों के विषय-वस्तु को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है -- विधि अर्थात् यज्ञयागादि विषयक निर्देश, अर्थवाद अर्थात् कथादि के माध्यम से प्रतिपाद्य वस्तु या व्याख्यान एवं उपनिषद् अर्थात् आध्यात्मिक आधि-दैविक व आधिभौतिक विवेचन । इनमें उस युग की गहरी छाप है जबकि समस्त चिन्तन यज्ञयाग तक ही सीमित हो गया था । उस समय के लोगों की सबसे बड़ी समस्या यही थी कि किस प्रकार विधिवत् यज्ञ किया जाय । इसलिये वे इस विषय में गहरे पैठ गये थे । उन्होंने यज्ञ विषयक लम्बे चौड़े विधिविधानों की स्थापना की थी, विस्तारपूर्वक यज्ञप्रक्रिया का वर्णन किया था, छोटी से छोटी बात भी उनकी दृष्टि से ओझल नहीं हो पाई थी ।

मुख्य रूप से यज्ञयागादि के ग्रन्थ होने के कारण इनमें जनजीवन का उतना विस्तृत वर्णन नहीं मिलता जितना कि अन्य ग्रन्थों में । फिर भी इनमें उपलब्ध आख्यानों एवं उपाख्यानों के सूक्ष्म विवेचन से समकालीन जनजीवन की कुछ झांकी मिल ही जाती है । इनमें प्रयुक्त कतिपय शब्द भी इस दिशा में पर्याप्त सहायक हैं । उदाहरण के लिये कुल शब्द को ही लीजिये । यह शब्द ब्राह्मण ग्रन्थों से पूर्ववर्ती वाङ्मय में प्रयुक्त नहीं हुआ । इससे यह पता चलता है कि ब्राह्मण काल में संयुक्त

परिवार की प्रथा थी । पिता या बड़ा भाई इस संयुक्त परिवार का मुखिया होता था । गोद लेने की प्रथा निस्सन्तान होने की स्थिति में ही केवल प्रचलित नहीं थी । सन्तान होने पर भी परिवार में योग्य सदस्य की वृद्धि के लिये यह अपनाई जा सकती थी जैसाकि शतपथ ब्राह्मण में उपलब्ध शुन:शेप के सुप्रसिद्ध आख्यान से पता चलता है । इस आख्यान से यह भी स्पष्ट है कि पिता का पुत्र पर पूर्ण अधिकार था और सम्पत्ति के समान वह उसे जिसे चाहे सौंप सकता था । जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण से यह पता चलता है कि अपना जीवन-साथी चुनने में पुत्र अथवा पुत्री को पूर्ण स्वतन्त्रता थी । पिता उनके लिये वर अथवा वधू का चुनाव नहीं करता था ।

जाति पंक्ति प्रथा का वेद में इतना स्पष्ट उल्लेख नहीं है जितना कि ब्राह्मण ग्रन्थों में । वहां ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों का असन्दिग्ध उल्लेख है । न केवल इतना ही, प्रत्येक के कर्तव्य, अधिकार एवं समाज में स्थिति का भी उनमें वर्णन है । पुरुषमेधयज्ञ में जिन जिन देवताओं को पुरुष की बलि देने का विधान है वर्णभेद के हिसाब से उनमें भी भेद है । भिन्न-भिन्न वर्णों के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार के नमस्कारादि का इनमें उल्लेख है ।

जहां तक विवाह प्रथा का सम्बन्ध है सगोत्र विवाह का कहीं भी स्पष्ट रूप से निषेध नहीं है पर ऐसा प्रतीत होता है कि सगोत्र विवाह बहुत अधिक प्रचलित नहीं था । जब तक बड़े बच्चों का विवाह न हो जाय तब तक छोटों का विवाह नहीं होता था । ब्राह्मण ग्रन्थों में कन्या के विक्रय का भी उल्लेख है पर समाज उसे घृणा की दृष्टि से देखता था । दहेज प्रथा उस समय भी प्रचलित थी । संहिता काल में नारी का जितना उच्च स्थान था उतना ब्राह्मण ग्रन्थों तक पहुंचते पहुंचते नहीं रहा था । फिर भी यत्र-तत्र नारी की प्रशंसा के पुल बांधे गये हैं । शतपथ में उसे पुरुष की अर्धांगिनी कहा गया है, पुरुष को उसके बिना अपूर्ण बताया गया है । पर इतना स्पष्ट है कि पुरुष से उसका दर्जा नीचा था । पुरुष के समान वह राजनैतिक संस्थाओं-सभा और समिति-आदि में भाग नहीं ले सकती थी । उसका चुप रहना ही उसका भूषण था । ऐतरेय ब्राह्मण में स्पष्ट कहा है कि अच्छी स्त्री वह है जो बात

पलटती नहीं । स्त्री और पुरुष में पुरुष की श्रेष्ठता का यह एक और भी प्रमाण है कि ब्राह्मण ग्रन्थों के समय लोग पुत्र प्राप्ति के लिये आतुर रहा करते थे, इसके लिये वे तरह तरह की प्रार्थनाएं करते थे और यज्ञ करते थे । जैसी स्थिति आज है लगभग वैसी ही उस समय भी थी । ऐतरेय ब्राह्मण में कन्या को कष्टों की खान कहा है और कहा है कि केवल पुत्र से ही परिवार का त्राण हो सकता है ।

शिक्षा उस समय प्रचलित थी । लेखन कला का ज्ञान होने पर भी शिक्षा-पद्धति में उसका कोई विशेष स्थान न था । गुरु वाचिक रूप से शिष्य को ज्ञान प्रदान करता था । ताण्ड्य ब्राह्मण में वर्णित नन्हें अंगिरा के अपने बड़ों को पढ़ाने के रोचक प्रसंग एवंच ऐतरेय और तैत्तिरीय ब्राह्मणों में उल्लिखित नाभानेदिष्ठ और भारद्वाज के उपाख्यानों से उस समय की शिक्षा-पद्धति का बहुत कुछ पता चल जाता है । ब्राह्मण-कालीन शिक्षा में धर्म के पालन, गुरु, माता-पिता एवं बड़ों के प्रति आदर, आतिथ्य, उदारता एवं भक्ति पर बहुत बल दिया जाता था । जो विषय पढ़ाये जाते थे उनका भी बहुत कुछ पता ताण्ड्य ब्राह्मण से लग जाता है । उसमें पाठ्य विषयों में गणित, व्याकरण और छन्द:शास्त्र का उल्लेख है । भाषा भी सम्भवत: अध्ययन का प्रमुख विषय थी क्योंकि उसी ब्राह्मण में उत्तर भारतीयों को भाषा और व्याकरण विषयों में विशेष निपुण बताया गया है । स्त्रियां सम्भवत: बौद्धिक जीवन में भाग लेती थीं । शतपथ ब्राह्मण के अनुसार उन्हें गीत और नृत्य की शिक्षा दी जाती थी ।

ब्राह्मण ग्रन्थों के समय का प्रमुख आमोद प्रमोद था संगीत । उस समय के प्रमुख वाद्यों में एक ऐसी वीणा का उल्लेख है जिसके सौ तार थे ।

वेषभूषा की दृष्टि से उस समय के लोग उष्णीष, पगड़ी, के अतिरिक्त तीन और वस्त्र धारण करते थे -- नीवी बनियान की तरह का अन्दर का कपड़ा, वासस् कमीज़ की तरह का इसके ऊपर का कपड़ा और अधिवासस् कोट या चोगे आदि की तरह का उससे भी ऊपर का कपड़ा । कपड़ों में ऊनी कपड़ों का ब्राह्मण ग्रन्थों में बार-बार उल्लेख है । उस समय के आभूषणों में एक विशेष आभूषण था स्थागर

जिसका तैत्तिरीय ब्राह्मण में उल्लेख है। षड्विंश ब्राह्मण में विमुक्ता और मणि के पहिनने का भी वर्णन है। किञ्च ब्राह्मण ग्रन्थों में धातु या धातु दर्पण से बने प्राकाश नाम के एक आभूषण की भी चर्चा है। पञ्चविंश ब्राह्मण में व्रात्यों के द्वारा पहिने जाने वाला चांदी का निष्क नामक आभूषण भी उल्लिखित है। अनेक ब्राह्मण ग्रन्थों में शलली नामक शल्यक अर्थात् साही के काटे का बाल काढ़ने के लिये एवञ्च आंखों में काजल आदि लगाने के लिये उल्लेख है। ब्राह्मण ग्रन्थों के अध्ययन से पता चलता है कि उस समय लोगों की आर्थिक स्थिति पर्याप्त अच्छी थी। व्यापार और वाणिज्य उन्नति पर थे। तैत्तिरीय ब्राह्मण में पुरुषमेध के प्रसङ्ग में अनेक व्यवसायों का उल्लेख है। व्यापार केवल अपने देश तक ही सीमित न था। ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर समुद्र का उल्लेख है। शतपथ ब्राह्मण में उल्लिखित पूर्वी और पश्चिमी समुद्रों से सम्भवत: हिन्द महासागर और अरब महासागर से तात्पर्य था। इन्हीं समुद्रों में से होकर व्यापारी देश विदेश से व्यापार किया करते थे।

जीविका का प्रमुख साधन खेती थी। तैत्तिरीय और शतपथ ब्राह्मणों के अनुसार छ:, आठ, बारह, या कभी-कभी चौबीस बैल हल खींचने के काम में लाये जाते थे जिससे प्रतीत होता है कि उस समय के हल बहुत भारी हुआ करते थे। मकान, हर्म्य, उस समय के बहुत बड़े-बड़े होते थे। यातायात के लिये अनस् अर्थात् शकट एवञ्च रथ काम में आते थे। पैदावार पर्याप्त होने से लोग सामान्यतया सुखी और सम्पन्न थे।

उस समय के खाद्य पदार्थों में जौ, चावल एवं तिल प्रधान थे। इन्हें ही घी, दूध या जल में पका कर तरह तरह के पकवान बनाये जाते थे। उन पकवानों में चावल या जौ को घी में पका कर बनाया गया अपूप, इन्हीं को ही दूध में पका कर बनाया गया ओदन, बिना छिलका उतारे ही चावलों या जौ को [illegible] भून कर और पीस कर बनाया करम्भ और जौ को उबाल कर बनाया गया मांड, यवागू, विशेष उल्लेखनीय हैं।

दूध और इससे बने पदार्थों का भी लोग चाव से सेवन करते थे। दूध जमा कर दही, दधि, बनाया जाता था और नवनीत मक्खन निकाला जाता था। दही को ही बिलो कर एक ऐसा पेय तैयार किया जाता था जिसे आमिक्षा कहा जाता था। इसी प्रकार छाछ और मक्खन के एक विशेष प्रकार के सम्मिश्रण से एक ऐसा पेय तैयार होता था जिसे पृषदाज्य कहा जाता था। एवमेव दूध, छाछ, मक्खन आदि में कुछ और चीजें मिला कर पयस्या, [illegible] तैयार किये जाते थे।

हमारे गौरव ग्रन्थ -- कल्हण की राजतरङ्गिणी

डा० सत्यव्रत

काश्मीर के कवि कल्हण संस्कृत के एक ऐसे कवि हैं जिनकी अद्वितीय रचना राजतरङ्गिणी का ऐतिहासिक महत्व है । यद्यपि इसे वैज्ञानिक इतिहास नहीं कहा जा सकता फिर भी जो ऐतिहासिक सामग्री इन्होंने प्रस्तुत की है वह वैज्ञानिक इतिहास के निर्माण के लिये पर्याप्त विश्वसनीय है । उन्होंने स्वयं अपने ग्रन्थ में अपनी सामग्री संकलन की पद्धति की चर्चा की है । उन्होंने कहा है कि मैंने अनेक भ्रान्तियों से उत्पन्न चिन्ता से बचने के लिये शिला-लेख, दानपत्र, प्रशस्तियों, हस्तलिखित प्रतियों और सिक्कों की छान-बीन की है --

दृष्टैश्च पूर्वभूभर्तृप्रतिष्ठा वस्तुशासनैः ।
प्रशस्तिपट्टैः शास्त्रैश्च शान्तो शेषभ्रमक्लमः ।।

अपने समय से पूर्व के इतिहास की खोजबीन में भी उन्होंने पर्याप्त परिश्रम किया है । पूर्ववर्ती इतिहास को जानने के लिये उन्होंने ग्यारह ग्रन्थों का अध्ययन किया था --

दृग्गोचरं पूर्व सूरिग्रन्था राजकथाश्रयाः ।
मम त्वेकादश गता मतं नीलमुनेरपि ।।

राजतरङ्गिणी काश्मीर का केवल राजनैतिक इतिहास ही प्रस्तुत नहीं करती, अपितु वहां के भौगोलिक विवरण, सामाजिक व्यवस्था, साहित्यिक समृद्धि तथा आर्थिक दशा के लिये भी विश्वकोष का काम करती है ।

कल्हण अपने पूर्ववर्ती कवि बिल्हण की भांति ही काश्मीर के निवासी थे । किन्तु वे न तो दरबारी थे न दरबारी कवि । इनके पिता चण्पक काश्मीर के राजा हर्ष जिनका काल ई० १०८९ से ११०१ के बीच था, प्रधानमन्त्री थे । पर ११०१ में हर्ष की हत्या के पश्चात् काशी जाकर निवास करने लगे थे । कल्हण उस समय छोटे ही थे । पिता के मन्त्रिपद से हट जाने के कारण वे भी मन्त्रिपद से वंचित

रह गये । वे काश्मीर में रहते हुए भी काश्मीर की राजनीति से तटस्थ थे । इसी कारण उच्चल और सुस्सल के सिंहासनारूढ़ होने के पश्चात् के काश्मीर के दमन, अत्याचार एवं रक्तपात के इतिहास का वर्णन उन्होंने तटस्थता से वर्णन किया है ।

कल्हण का वास्तविक नाम कल्याण था । अलकदत्त नाम का कोई व्यक्ति इनका आश्रयदाता था जिसकी प्रेरणा से ही सम्भवत: उन्होंने राजतरङ्गिणी की रचना की थी । इसकी रचना के समय सुस्सल का पुत्र जयसिंह सिंहासनारूढ़ था । राजतरङ्गिणी को कल्हण ने शक संवत् १०७० अर्थात् ११४८-४६ ई० में लिखना प्रारम्भ किया था और समाप्त अगले वर्ष अर्थात् ११५० ई० में किया था ।

कल्हण की एक ही रचना राजतरङ्गिणी इस समय उपलब्ध है किन्तु रत्नाकर के 'सारसमुच्चय' नामक ग्रन्थ में दिये गये उद्धरण से पता चलता है कि उन्होंने अपने समकालीन राजा जयसिंह पर 'जयसिंहाभ्युदय' नामक काव्य की रचना की थी ।

कल्हण की राजतरङ्गिणी में आठ तरङ्ग हैं जिनमें कवि ने अति प्राचीन काल से प्रारम्भ कर अपने समकालीन राजा जयसिंह तक का इतिहास दिया है । राजतरङ्गिणी की प्रथम तीन तरङ्गें कुछ छोटी हैं । इनमें बावन राजाओं का वर्णन है । वर्णन कोई विशेष ऐतिहासिक नहीं है । पौराणिक गाथाओं के आधार पर रचा गया बहुत कुछ काल्पनिक है । पर जैसे जैसे कवि अपने समय की ओर बढ़ता गया है उसका वर्णन अधिकाधिक प्रामाणिक होता गया है । ग्रन्थ का प्रारम्भ विक्रम पूर्व द्वादश शती के किसी गोनन्द नामक राजा से होता है । चतुर्थ तरङ्ग में करकोट वंश का वर्णन है । इसका आरम्भ भी पौराणिक है किन्तु आगे के वर्णन में इतिहास की झलक है । पाँचवीं तरङ्ग से वास्तविक और प्रामाणिक इतिहास का प्रारम्भ होता है । इसमें अवन्ति वर्मा का वर्णन है । छठी तरङ्ग में कवि इतिहास को १००३ ई० तक ले आता है जहाँ आकर विलासिनी रक्तपिपासु रानी दिद्दा का अन्त होता है । सातवीं तरङ्ग से दिद्दा के भतीजे से लोहर वंश का प्रारम्भ होता है । इसमें हर्ष की हत्या तक के इतिहास का चित्रण है । अन्तिम आठवीं तरङ्ग ~~में-है ३४४६ पद्य-हैं~~ काफी बड़ी है, इतनी बड़ी कि इस अकेली तरङ्ग में ही ३४४६ पद्य हैं । इसमें कवि ने उच्चल के राज्यारोहण से आरम्भ कर अपनी समकालीन हेरफेर और उथलपुथल से भरी घटनाओं का सविस्तर वर्णन किया है ।

कल्हण की राजतरङ्गिणी न केवल काश्मीर के राजनैतिक इतिहास का ही अपितु उसकी संस्कृति का भी विशद चित्र उपस्थित करती है । पण्डित नेहरू के शब्दों में "कल्हण की रचना राजाओं के कृत्यों के चित्रण से कहीं कुछ अधिक है । यह राजनैतिक, सामाजिक और कुछ अंशों में आर्थिक सूचनाओं का एक समृद्ध भण्डार है । मध्य काल के सम्पूर्ण युद्ध-वैभव का दर्शन हमें यहां होता है -- चमचमाते कवचों में सैनिक योद्धा, आदर्श वीरता और भयानक निर्दयता, मृत्युपर्यन्त स्वामिभक्ति और बेसमझ विश्वासघात -- ये सभी हमें यहां दिखाई पड़ते हैं । हम यहां सुय्य के बड़ी बड़ी इंजिनी परी और सिंचाई के कृत्यों के बारे में पढ़ते हैं, ललितादित्य के दूर दूर तक युद्ध, मेघवाहन के विजय के द्वारा अहिंसा का प्रचार, मन्दिरों और बौद्ध-विहारों का निर्माण एवं मूर्ति विध्वंसकों द्वारा उनका विध्वंस एवं अमानवीय अत्याचारों का हाल पढ़ते हैं ।

लेखक ने यद्यपि सामग्री सङ्कलन में बहुत परिश्रम किया है तो भी अनेक बार वे वैज्ञानिक दृष्टिकोण नहीं रख गये हैं । पौराणिक व लोक कथाओं को वे बिना परीक्षण के स्वीकार कर लेते हैं । किं च जादू टोने आदि में भी उनका विश्वास है । प्राचीन कवियों द्वारा दिये गये कालक्रम को भी -- वे बिना परीक्षण किये स्वीकार कर लेते हैं । एवमेव मनुष्य के कार्यों की व्याख्या के लिये वे भाग्य, पूर्वजन्म-कृत कर्म, देवी-देवताओं या राक्षसों-पिशाचादिकों के हस्तक्षेप को पर्याप्त मानते हैं । किं च लेखक कवि हैं । शायद यह कहना उचित होगा कि वे कवि पहिले हैं, इतिहास-कार बाद में । अपने ग्रन्थ में वे संस्कृत काव्य शैली के अनुसार प्राकृतिक दृश्यादि का वर्णन करने का प्रयत्न करते हैं । पर ऐतिहासिक कथावस्तु की सीमा जब उन्हें विस्तार-पूर्वक ऐसा करने नहीं देती तो वे दु:खी हो जाते हैं और कहते हैं --

कथादैर्घ्यानुरोधेन वैचित्र्ये प्यप्रपञ्चिते ।

तदत्र किंचिदस्त्येव वस्तु यत्प्रीयते सताम् ।।

वैज्ञानिक इतिहास की दृष्टि से इन सब कमियों के होते हुए राजतरङ्गिणी कवि की सामग्री सङ्कलन में शोधपरक दृष्टि होने के कारण संस्कृत का सर्वश्रेष्ठ ऐतिहासिक काव्य माना गया है ।

राजतरङ्गिणी के अनेक पद्यों में कवि की कविप्रतिभा निखर उठी है । प्रात:काल का वर्णन करते समय कवि कहते हैं कि 'रात्रि के अन्त होने पर अभी तक पर्वतों की चोटियों पर उदीयमान सूर्य के किरणों की छटा ने स्वर्ण या ताम्र के रस के भ्रम को दूर नहीं किया । लताओं के नेत्र जैसी कलियों से अभी तक जलबिन्दु झर रहे थे, मानो चक्रवाकों के विरह को देख शोक के आंसू बहा रही हों --

> क्षपान्ते क्ष्मा धरोत्तंस हैमताम्ररसभ्रमम् ।
> उद्गच्छतो से यावाच्चच्छिद्दुर्न करच्छटा: ।
> चक्राह्व विरहालोकरुशो कानामिनाम्लगत् ।
> कुड्मलाक्षिपुटाधावन्नैका नाम्भश्च बीसधाम् ।।

कवि को अपनी कविता से यश मिलता है, इस पर कल्हण की परम आस्था है । वे कहते हैं --

> वन्ध: को पि सुधास्यन्दास्कन्दी स सुकवेर्गुण: ।
> येनायाति यश: काय: स्थैर्यं स्वस्य परस्य च ।।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहां महाकवि कल्हण ऐतिहासिक सामग्री प्रस्तुत करने में अद्वितीय हैं वहां कविप्रतिभा में भी किसी से कम नहीं । उनकी कृति ने जहां इतिहास की आधारभित्ति का काम किया है वहां सहृदयों के हृदय को काव्यरस से आप्लावित भी किया है । इन्हीं दोनों गुणों के कारण कवि कल्हण की राजतरङ्गिणी का संस्कृत साहित्य में अपना एक विशिष्ट स्थान है ।

000000000000

शंकरलाल माहेश्वर का साहित्य

डा० उषा सत्यव्रत

महामहोपाध्याय शंकरलाल माहेश्वर आधुनिक काल के एक बहुत बड़े साहित्यकार थे। इनका जन्म सन् १८४३ आषाढ़ चतुर्थी को हुआ था। इनके पिता का नाम माहेश्वर भट्ट था। इन्होंने अपने ग्रन्थों में उन्हें परममाहेश्वर कहा है -- परममाहेश्वरमाहेश्वर-भट्टपुत्रेण। जिससे स्पष्ट है कि वे परम शैव थे। शैव सम्प्रदाय के प्रति यही आसक्ति महामहोपाध्याय शंकरलाल जी में भी थी। पर इस विषय में उनमें कोई दुराग्रह नहीं था। भगवान् शिव में यदि उनकी आसक्ति थी तो भगवान् कृष्ण के प्रति भी आदर था। इसी भावना के कारण ही उन्होंने अपने नाटक श्रीकृष्णचन्द्राभ्युदय में शैव और वैष्णव धर्मों में समन्वय स्थापित करने का अद्भुत प्रयास किया है।

महामहोपाध्याय शंकरलाल जी की शिक्षा-दीक्षा जामनगर में हुई। वहां उनके गुरु थे श्री केशवशास्त्री। वे शंकरलाल को अपना धर्मपुत्र मानते थे। श्री शंकरलाल ने जो कुछ भी सीखा वह उनकी कृपा का फल था। उनकी विद्या एवं ज्ञान असीम थे। काव्य-व्याकरण-दर्शन आदि समस्त शास्त्रों में उनकी गति अबाध थी। महामहोपाध्याय शंकरलाल ने अपने प्रत्येक ग्रन्थ के आदि में इस महान् विभूति का स्मरण किया है। उस पर अपनी श्रद्धा के पुष्प चढ़ाये हैं। एक ग्रन्थ चन्द्रप्रभाचरितम् के प्रारम्भ में २० श्लोकों में 'सद्गुरुस्तुतिः' शीर्षक से उन्होंने उनका स्मरण किया है।

महामहोपाध्याय शंकरलाल एक अद्भुत प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। वे सरस्वती के वरद पुत्र थे। बाल्यकाल में ही उनकी ख्याति दूर-दूर तक फैल गई थी। एक बार जाम साहब के दरबार में आन्ध्र के एक कवि आये और उन्होंने एक विलक्षण कविता पढ़ी। सभी उसे सुन चमत्कृत थे। कविता पाठ के पश्चात् उन्होंने दरबार में उपस्थित सभी पण्डितों को ललकार कर कहा कि क्या आपमें से कोई इस प्रकार की काव्यरचना कर सकता है? इस पर महामहोपाध्याय शंकरलाल जी के गुरु श्री केशवशास्त्री उठे और बोले -- हां मेरा

शिष्य शंकरलाल ऐसी रचना कर सकता है । यह कहकर उन्होंने शंकरलाल को आदेश दिया और शंकरलाल ने वहीं की वहीं कविता रच डाली । वह कविता जब उन्होंने पढ़ी तो सभी दंग रह गये । कविता आन्ध्र के विद्वान् की कविता से कहीं बढ़कर थी ।

महामहोपाध्याय शंकरलाल आशुकवि थे, यह उपर्युक्त घटना से ही स्पष्ट है । इसीलिए उन्हें शीघ्र कवि कहा जाता था । वे साहित्य की नाना विधाओं में लिखने में समान रूप से सिद्धहस्त थे इसीलिए उन्हें शतावधानी कवि कहा जाता था । सन् १९१४ में भारत सरकार ने उन्हें महामहोपाध्याय की उपाधि प्रदान की थी । मोरवी की जनता स्नेह एवं आदर वश उन्हें 'शंकर के गण' एवंच 'काठियावाड़-चन्द्र' कहकर पुकारती थी । अपने समसामयिक विद्वानों में इतना सम्मान पाने वाले शंकरलाल माहेश्वर ने जितना अधिक और जिस उत्कृष्ट कोटि का साहित्य रचा है उसकी कोई सानी नहीं है । ७४ वर्ष की आयु तक वे संस्कृत साहित्य को अपनी अमर कृतियों से समृद्ध करने में व्यस्त रहे । अब तक इनकी १८ रचनायें प्रकाशित हो चुकी हैं जिनके नाम हैं -- अनसूयाभ्युदय, सावित्रीचरित्र, गोपालचिन्तामणि, अमरमार्कण्डेय, मद्रायुविजय, ध्रुवाभ्युदय, चन्द्रप्रभाचरित, विद्वत्कृत्यविवेक, विपन्मित्र पत्र, सेव्यसेवकधर्म, कच्छमहोदय, बालाचरित्र, मेघप्रार्थना, लघुकौमुदी-प्रयोग-मणिमाला, अध्यात्म-रत्नावली, स्तोत्रसंग्रह, दीपकथाविवाहचम्पू, स्तोत्ररत्नावली । अप्रकाशित रचनाओं की संख्या भी पर्याप्त है । वे हैं -- वामनविजय, ~~ध्रुवाभ्युदय~~, पार्वतीपरिणय, भ्रान्तिभयभंजन, केशवकृपालेशलहरी, पांचालीचरित्र, प्रसन्नलोपामुद्रा, अरुन्धतीविजय, महेशप्राणप्रिया, रवाजीराजकीर्तिविलास, आह्निक, संस्कृतगुजराती कोष, जटाशंकरविवाहचम्पू । इन ३० प्रकाशित व अप्रकाशित कृतियों में से उनकी सर्वप्रथम कृति रवाजीराजकीर्तिविलास थी जोकि उन्होंने रवाजीराज महाराज के अनुरोध पर लिखी थी । कुछ समय पश्चात् महाराज स्वर्ग सिधार गये । उनके निधन के बाद महारानी ने उनकी स्मृति में एक स्मारक बनाने के लिए महामहोपाध्याय शंकरलाल जी से सुझाव मांगा । महामहोपाध्याय शंकरलाल ने मोरवी में एक संस्कृत पाठशाला की स्थापना का सुझाव दिया । महारानी को यह सुझाव पसन्द आया फलस्वरूप मोरवी में रवाजीराज संस्कृत पाठशाला की स्थापना हुई । उसके प्रथम आचार्य

बने महामहोपाध्याय शंकरलाल माहेश्वर । वे आजीवन वहीं काम करते रहे और वहीं काम करते-करते ७४ वर्ष की आयु में सन् १९१७ में वे स्वर्ग सिधार गये ।

महामहोपाध्याय शंकरलाल माहेश्वर ने अपने ग्रन्थ में सरल संस्कृत का ही प्रयोग किया है । जहां तक नाटक, चम्पू एवं स्तोत्र ग्रन्थों का सम्बन्ध है लगभग यही स्थिति है । केवल गद्य ग्रन्थों में उनकी शैली बाण की क्लिष्ट शैली का अनुसरण करती है । चन्द्रप्रभाचरित में मानसोदय नामक नगर का वर्णन करते हुए कवि कहते हैं --

अस्ति समस्तवसुमतीमस्तकालंकारभूतं सकलसंसारसारभूतं विविधविभवविहाराधारभूतं सुरपुरसमृद्धिप्रतिस्पर्द्धिमहर्द्धिमन्महामन्दिरावलीसुन्दरं स्वधर्मसत्कर्मतत्परान्त:करणचातुर्वर्ण्य-निवासातिवर्ण्यवर्ण्यमहीमहेन्द्रमुखचन्द्रलावण्यमापीयापीय चद्रुष्वषकमरन्दानन्दसन्दोह-मग्नाखिललोकमस्तोकशोकमनुदिनमेघमानदेवभूदेवकुलसन्मानसोदयं मानसोदयं नामातिरमणीयं नगरम् ।

ध्रुवाभ्युदय नाटक में एक स्थान पर एक नगरी और तपोवन का वर्णन मिलता है जो सुतरां मनोहारी है --

वैडूर्यनिर्मलजला परित: कदम्ब-
खण्डैर्वृता नयन हर्षकरी नदीयम् ।
का वा विभो कलममिन्द्रमणिप्रभाभं
पुण्यं तपोवनमिदं घनकुंजपुंजम् ।।

श्री वासुदेव के ध्यान में मग्न ध्रुव को सभी कुछ वासुदेवमय ही दीखता है --

ताले तमालेऽपि तथा रसाले
शाले प्रियालेऽपि तमेकमेव ।
पश्यामि पीताम्बर मार्तबन्धुं
श्री वासुदेवं सकलेष्टदेवम् ।।

नन्हें नन्हें कोमल बच्चे कृष्ण और बलराम वज्रतुल्य धनुष का किस प्रकार भंग कर सकें, यह चिन्ता माता देवकी को खाये जा रही है । गोपालचिन्तामणि नाटक में वे अपने

पति वसुदेव से कहती है बालक कमल के भीतरी भाग के समान कोमलांग हैं। भला शिरीष की कोंपल से शिलाखण्डन कैसे हो सकेगा --

कमलान्तरकोमलांगकान्तौ
कुसुतौ तौ क्व धनुश्च वज्रकल्पम्।
कथमेव हि सम्भवेच्छिरीष-
प्रसवाग्रेण तु खण्डनं शिलाया: ।।

श्री कृष्णचन्द्राभ्युदय में भगवान् शंकर से वर प्राप्त कर लौटते हुए श्री कृष्ण का वर्णन कितना सजीव एवं प्रवाहमय है --

सन्तापान् शमयन् तमश्च दमयन् सर्वान् समाह्लादयन्
स्वीयान् भक्तचकोरकांश्च रमयन् पौष्पांश्च सम्पोषयन्।
श्रीमत्साम्बशिवातुलकृपादृग्देशलब्धोदय:
प्रद्युम्नायात्ययमत्र पश्यत मुदा श्रीकृष्णचन्द्र: स्वयम् ।।

कवि का भाषा पर अधिकार असाधारण है। उसमें अनुप्रास और यमक का पुट अनायास ही आ जाता है। उसकी पद शय्या मनमोहक है। भक्तिरस का उसकी रचनाओं में प्राधान्य है।

महामहोपाध्याय शंकरलाल माहेश्वर अपने समय के मूर्धन्य साहित्यकार थे। उनकी संस्कृत साहित्य को देन सदा सर्वदा अमर रहेगी।

.. .. ..
.. ..
..

महाकवि कालिदास और उनके काव्य नाटक

बच्चो । क्या तुम जानते हो कि कालिदास कौन थे ? वे हमारे भारतवर्ष के संस्कृत के मूर्धन्य महाकवि और नाटककार थे, और क्या तुम यह जानते हो कि उनका नाम कालिदास क्यों पड़ा ? नहीं ? तो सुनो हम तुम्हें बताते हैं । एक दन्तकथा है कि मालव देश की एक राजकुमारी थी जिसका नाम विद्योत्तमा था, बहुत विदुषी थी । उसका प्रण था कि वह उसी से शादी करेगी जो उसे शास्त्रार्थ में हरा देगा । बड़े से बड़े पण्डित आये पर उसे हरा न सके । उन्हें मुंहकी खानी पड़ी । उन्हें बहुत बुरा लगा । उन्होंने सोचा इस राजकमुारी को ऐसा पाठ पढ़ाया जाए कि जीवन भर न भूले । एक महामूर्ख इसके पल्ले बांध दिया जाय । वे महामूर्ख की तालाश में निकले । चलते-चलते उन्हें एक ऐसा आदमी दीख गया जो पेड़ की उसी डाली को काट रहा था जिस पर वह बैठा था । पण्डित बड़े खुश हुए । वे जान गये कि इससे बड़ा मूर्ख और कौन होगा । वे उसे अपने साथ राजकुमारी के पास ले आये । रास्ते में उन्होंने उसे समझा दिया था कि वे उसे एक राजकुमारी के पास ले जा रहे हैं । उसे उसके आगे कुछ बोलना नहीं है । राजकुमारी के पास आकर उन पण्डितों ने कहा कि एक बहुत बड़े विद्वान् आये हैं पर वे बोलते नहीं हैं, मौन ही रहते हैं । वे उसके साथ शास्त्रार्थ करेंगे पर शास्त्रार्थ मौन ही होगा । राजकुमारी ने स्वीकार कर लिया । शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ । राजकुमारी ने एक उंगली उठाई जिसका आशय था कि ब्रह्म एक है । मूर्ख ब्राह्मण ने समझा कि यह कहना चाहती है कि मैं तुम्हारी एक आंख फोड़ दूंगी । उसने दो उंगलियां उठा दीं जिसका आशय था कि यदि तुम मेरी एक आंख फोड़ोगी तो मैं तुम्हारी दोनों आंखें फोड़ दूंगा । पर पण्डितों ने उसका दार्शनिक अर्थ लगाया कि प्रकृति और पुरुष इन दोनों से सृष्टि बनती है इसलिये दोनों की आवश्यकता है । उन्होंने दो उंगलियों के उठाने की ऐसी व्याख्या की, ऐसी व्याख्या की कि विद्योत्तमा से कोई उत्तर न बन पड़ा और वह हार गई । हारते ही शर्त के अनुसार उसे उस कृत्रिम मौनी ब्राह्मण से विवाह करना पड़ा । वह शायद सोच रही थी कि एक बहुत बड़े विद्वान् से विवाह हुआ है पर उसका यह भ्रम बहुत देर न रह सका । विवाह के थोड़ी देर बाद ही ब्राह्मण को उष्ट्र ऊंट दिखाई पड़ गया । खुशी के मारे वह चिल्ला उठा उट्र, उट्र । उष्ट्र का उट्र उच्चारण सुन राजकुमारी ने सिर पीट लिया । समझ गई कि पण्डितों

ने उसके साथ एक गहरी चाल चली है । दु:खी मन से उसने ब्राह्मण को अपने पास बुलाया और अनेक प्रकार से उसकी भर्त्सना की और घर से धक्के मार कर निकाल दिया । सामने मां काली का मन्दिर था । ब्राह्मण की जिह्वा से खून बह रहा था । मां काली ने पूछा क्या चाहते हो । ब्राह्मण ने समझा कि पूछ रही हैं किसने मारा । उसने रोते हुए उत्तर दिया विद्दा, विद्दा अर्थात् विद्योत्तमा ने । मां काली ने समझा बेचारा विद्या मांग रहा है । उन्होंने कहा -- तथास्तु । उनके ऐसा कहते ही ब्राह्मण का समस्त अज्ञान दूर हो गया । वह विद्योत्तमा के पास आया और बोला द्वारं देहि दरवाज़ा खोलो । उसका शुद्ध उच्चारण सुन विद्योत्तमा विस्मित हुई । उसने पूछा -- तुम्हारी वाणी में कुछ अन्तर आ गया है ? ब्राह्मण की जिह्वा पर तो सरस्वती आ गई । मां काली का वरदान उसे मिला था । इसी वरदान के कारण कालिदास के नाम से उसकी प्रसिद्धि हो गई । वह ऐसा कवि एवं साहित्यकार बना जिसका सानी आज तक संस्कृत साहित्य में कोई न बन सका ।

~~और अन्त में कहा~~ -- अस्ति कश्चिद् वाग्विशेष: ?

बच्चो, विद्योत्तमा के जो अन्तिम शब्द उसके कान में पड़े थे -- अस्ति कश्चिद्वाग्विशेष: उन्हीं में से एक एक पद से उन्होंने अपनी तीन रचनाओं का प्रारम्भ किया । अस्ति से कुमारसम्भव का - अस्त्युत्तरस्यां दिशिदेवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराज:, कश्चित् से मेघदूत का -- कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात् प्रमत्त: और वाक् से रघुवंश का -- वागर्थाविवसम्पृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये । बच्चो । तुम यह शायद जानना चाहोगे कि कालिदास ने कितने ग्रन्थ लिखे । उनके ग्रन्थों में दो महाकाव्य हैं -- रघुवंश और कुमारसम्भव, दो गीति काव्य ऋतुसंहार और मेघदूत और तीन नाटक -- मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय और अभिज्ञानशाकुन्तल ।

आप सोचेंगे कि हमें यह तो बताया ही नहीं कि महाकाव्य और नाटक होते क्या हैं, नाटक तो फिर भी समझ में आ जाते हैं, क्योंकि स्कूलों में आप बड़े न सही छोटे नाटक तो करते ही होंगे जिसमें कभी आपका कोई सहपाठी राम का अभिनय करता होगा और कोई लक्ष्मण का तथा कोई सीता का लेकिन महाकाव्य तो ऐसी वस्तु है नहीं जिसका अभिनय किया जा सके, इसे तो पढ़कर ही, या सुनकर ही आनन्द उठाया जा सकता है, महाकाव्य का अर्थ है बहुत से भागों अर्थात सर्गों में बंटी हुई बहुत बड़ी कविता और यदि कविता बहुत बड़ी है तो उसकी कहानी भी बहुत बड़ी होगी । कालिदास

का सबसे प्रथम और अत्यन्त सुन्दर महाकाव्य है कुमारसम्भव, जिसका अर्थ है कुमार अर्थात कुमार कार्तिकेय, भगवान शिव का पुत्र, और सम्भव का अर्थ है कुमार कार्तिकेय का प्रकट होना । कुमारसम्भव नामक महाकाव्य में १७ सर्ग हैं और इसमें महाकवि कालिदास ने बताया है कि किस प्रकार पार्वती तपस्या करने के पश्चात् ही शिव को पति के रूप में प्राप्त कर सकीं । और उसके पश्चात् उन्होंने कार्तिकेय जैसे वीर पुत्र को जन्म दिया, जिसने दानवों का नाश किया ।

रघुवंश का प्रारम्भ महाकवि कालिदास ने राम के पूर्वज रघु के जन्म के वर्णन से किया है, रघु का जन्म तभी सम्भव होता है जब राजा दिलीप देवताओं की गाय कामधेनु की पुत्री नन्दिनी की सेवा करता है, उसके पश्चात् रघु के पुत्र अज का विवाह इन्दुमती से किस तरह से होता है, महाकवि ने इसका वर्णन भी बहुत सुन्दर शब्दों में किया है । इसके पश्चात् राम-जन्म का और उनका चरित्रगान भी कवि ने बहुत भावपूर्ण शब्दों में किया है । इस महाकाव्य में उन्नीस सर्ग हैं । राजा दिलीप से लेकर अग्निवर्ण तक के राजाओं का इसमें वर्णन है ।

कुमारसम्भव और रघुवंश तो बहुत बड़े बड़े महाकाव्य हैं लेकिन एक उनकी अपेक्षा छोटा काव्य जिसे आप खण्ड काव्य भी कह सकते हैं, ऋतुसंहार और मेघदूत हैं । ऋतुसंहार महाकवि की सबसे पहिली रचना मानी जाती है । इसमें छः ऋतुओं का सरस-सुन्दर वर्णन है । मेघदूत जिसका पहिले उल्लेख किया जा चुका है कवि का दूसरा खण्ड काव्य है । इसका कवि कथानक बहुत रोचक है । एक यक्ष को अपना कार्य ठीक तरह से न करने के कारण दण्ड स्वरूप मध्यप्रदेश के रामगिरि के आश्रमों में आकर रहना पड़ता है जबकि उसकी प्रिय पत्नी हिमालय की गोद में बसी अलका नगरी में है । यक्ष को अपनी पत्नी की याद आती है, किन्तु न तो वह वहां जा सकता है, और न ही उसकी खोजखबर ले सकता है । वर्षा ऋतु प्रारम्भ होने को है । जैसे ही आषाढ़ के पहिले दिन उसे मेघ दिखाई पड़ जाता है वह उसे ही अपना सन्देश अपनी पत्नी के पास पहुंचाने का अनुरोध करता है । वह उसे रामगिरि से अलका तक का मार्ग बताता है और सन्देश कहता है । मनोभावों के सूक्ष्म विश्लेषण में यह काव्य अद्वितीय है ।

इसके बाद आती है बारी नाटकों की, यह तो आपको मालूम ही है कि नाटककार जो कुछ अपने चारों ओर देखता है उसी को अमर बना देने की इच्छा उसे होती है, कालिदास

ने अपने युग में अपने आसपास घटने वाली घटनाओं या हमारे पुराणों में वर्णित घटनाओं

को ही इतना सुन्दर रूप दे दिया है कि आज तक और आने वाले कई युगों तक उन्हें सर्वश्रेष्ठ नाटकों में गिना जायगा ।

कालिदास का सबसे पहला नाटक है मालविकाग्निमित्र, इसमें शुंग वंश के राजा अग्निमित्र तथा मालविका के प्रेम का चित्रण है । उसका दूसरा नाटक है विक्रमोर्वशीय जिसमें राजा पुरूरवा और अप्सरा उर्वशी की प्रणयगाथा चित्रित है । दोनों ही नाटकों में पांच-पांच अंक हैं ।

अभिज्ञानशाकुन्तल कालिदास का सबसे प्रसिद्ध नाटक है । भारतीय आलोचकों ने तो इसे सम्पूर्ण नाटक साहित्य में सबसे श्रेष्ठ बताया है । और इसीलिए कहा है 'काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला' पश्चिमी विद्वानों ने भी अपनी दृष्टि से इसे अत्युत्तम नाटक माना है और शायद इसी आधार पर कालिदास को उन्होंने भारतीय शेक्सपियर कहा है । अभिज्ञानशाकुन्तल का अर्थ है शकुन्तला के बारे में रचित नाटक जिसमें पहचान की वस्तु की प्रधानता है, और वह पहचान की वस्तु है एक सोने की अंगूठी जिसके खोने से राजा शकुन्तला को भूल जाता है और मिलने से पहचान जाता है । सम्पूर्ण नाटक की कथा इतनी रमणीय है कि पूरा नाटक पढ़े बिना रहा नहीं जाता । उसका कथानक इस प्रकार है कि हस्तिनापुर का राजा दुष्यन्त आखेट करने के लिए बन में जाता है और संयोगवश महर्षि कण्व के आश्रम में शकुन्तला से साक्षात्कार करता है । उसकी जन्मकथा सुनकर उसके हृदय में शकुन्तला के लिए अनुराग उत्पन्न होता है । ऋषियों के प्रार्थना करने पर आश्रम की रक्षा करने के लिए वह स्वयं वहीं रह जाता है । इसी बीच राजा और शकुन्तला का समागम होता है और दुष्यन्त शकुन्तला को अंगूठी देता है । जब कण्व तीर्थ यात्रा से लौट कर आश्रम में आते हैं और शकुन्तला को गर्भवती जान गौतमी और शारद्वत और शाङ्गर्रव नामक दो शिष्यों के साथ हस्तिनापुर भेजते हैं । शकुन्तला का आश्रम से जाने का दृश्य बड़ा ही करुणोत्पादक है । रास्ते में नदी में स्नान करने के कारण शकुन्तला की अंगुली से अंगूठी नदी में गिर जाती है । शकुन्तला हस्तिनापुर पहुंचती है, परन्तु दुर्वासा के शाप के कारण राजा उसे पहचानता नहीं । राजा द्वारा शकुन्तला को अस्वीकार करने के बाद और ऋषियों के चले जाने पर शकुन्तला को कोई दिव्य ज्योति आकाश में उठा ले जाती है और मारीच के आश्रम में वह अपनी माता मेनका के साथ निवास करती है । इधर राजा की नामांकित अंगूठी मछुए के पास से राजा को मिलती है जिसे देखते ही दुष्यन्त को शकुन्तला की स्मृति हो

जाती है, वह सारी घटना को याद कर के व्याकुल हो उठता है। अन्त में इन्द्र की सहायता करने के लिए स्वर्ग लोक में जाता है और जब विजय करके वापिस आता है तो मारीच आश्रम में ही अपने पुत्र तथा प्रियतमा शकुन्तला का साक्षात्कार करता है। और इसी मधुर क्षण में नाटक समाप्त होता है।

वैसे तो कालिदास के द्वारा लिखी गई एक एक पंक्ति, श्लोक का एक एक अक्षर उद्धरण के योग्य है लेकिन एक श्लोक आपको सुनाया जायगा, जिससे आप स्वयं अनुमान लगा सकेंगे कि कालिदास कितने सजग, सहृदय और कोमल प्रकृति के कवि थे।

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया,
कण्ठः स्तम्भित वाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम्।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमहो स्नेहादरण्यौकसः,
पीड्यन्ते गृहिणः कथं न तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः॥

आज शकुन्तला अपने पति के घर चली जायगी। इससे उत्कण्ठा के मारे मेरा हृदय उच्छवसित हो रहा है। आंसुओं के अवरोध के कारण कण्ठ गद्गद हो रहा है, चिन्ता से दृष्टि शिथिल हो गई है, पास की चीज़ भी नहीं देख सकता, मैं तो अरण्यवासी हूं, जब संसारी न होने पर भी प्रेम के कारण मेरी ऐसी दशा हो गई है तब अपनी पुत्री को, पहिले पहल पतिगृह भेजते समय गृहस्थों को कितना दुःख होता होगा?

महाकवि कालिदास का स्थान संस्कृत साहित्यकारों में सर्वोपरि है। भारतीय परम्परा ने उन्हें कविकुलगुरु, कविकुलचूडामणि आदि उपाधियों से विभूषित किया है। उनकी वाणी की गहराई की थाह पाना कठिन है। उनके ग्रन्थों के सुप्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ ने ठीक ही कहा है --

कालिदासगिरां सारं कालिदाससरस्वती।
चतुर्मुखोऽथवा ब्रह्मा विदुर्नान्ये तु मादृशाः॥

कालिदास की वाणी की गम्भीरता को या तो कालिदास की वाणी जानती है या चतुर्मुख ब्रह्मा न कि मेरे जैसे लोग। मल्लिनाथ ने कितनी सच्चाई और ईमानदारी से कालिदास के सन्दर्भ में अपनी सीमाओं को स्वीकार कर लिया है।

o

Raghuvansa:-

Raghuvansa is one of Kalidasa's most famous and well-known works. In it the great poet has sung the story of the race of Raghu. Its sweat and charming poetry has had an appeal which can certainly be the envy of some of the best poems in the world. In it Kalidasa, the greatest of Indian poets has given us work of magic drapery woven in the strands of imagination and fancy. The language and diction are all excellent here. The work consists of nineteen cantos and has about 2500 verses written in different metres.

Biographic details.

Like most of the writers of the ancient times Kalidasa has left no biographic details about himself. It is only in the Malavikagnimitra, one of his plays that his name occurs. He does not say anything about himself except mentioning his name in the prologue of the above work. There are various theories in this field with regard to the age to which he belonged and the place where he lived. The consensus of opinion among scholars however is that Kalidasa belonged to Ujjain in Central India and flourished round about the 4th century A.D.

The importance of verses chosen for recitation.

Aja's lamentation for Indumati his beloved wife who gets killed on account of a creeper feeling on her forms one of those rare passages in the Raghuvansa which have a peculiar psychological appeal. In fact the death of Indumati means her release from mortal bondage imposed on her in reality a nymph through a curse. The verses in which Kalidasa described the lamentation of Aja touch the human heart more than any thing else does. One feels touched and piqued. The grief of Aja is so graphically portrayed here that the passage seems very well to bring out the emotion that one cannot but sympathise with the unfortunate king. His sorrow is too deep for tears. It is here that we find Kalidasa in one of his best poems

Contd.....(2)......

Raghuvamsa.

Raghuvamsa is one of Kalidasa's most famous and well-known works. In it the great poet has sung the story of the race of Raghu. The sweet and charming poetry has had an appeal which can certainly be the envy of some of the best poems in the world. In it Kalidasa, the greatest of Indian poets has given us work of magic drapery woven in the strands of imagination and fancy. The language and diction are all excellent here. The work consists of nineteen cantos and has about 2500 verses written in different metres.

Biographic details.

Like most of the writers of the ancient times Kalidasa has left no biographic details about himself. It is only in the Malavikagnimitra, one of his plays that his name occurs. He does not say anything about himself except mentioning his name in the prologue of the above work. There are various theories in this field with regard to the age to which he belonged and the place where he lived. The consensus of opinion among scholars however is that Kalidasa belonged to Ujjain in Central India and flourished round about the 4th century A.D.

The importance of verses chosen for recitation.

Aja's lamentation for Indumati his beloved wife who gets killed on account of a creeper falling on her forms one of those rare passages in the Raghuvamsa which have a peculiar psychological appeal. In fact the death of Indumati means her release from mortal bondage imposed on her in reality a nymph through a curse. The verses in which Kalidasa describes the lamentation of Aja touch the human heart more than any thing else does. One feels touched and moved. The grief of Aja is so graphically portrayed here that the passage seems very well to bring out the emotion that one cannot but sympathise with the unfortunate king. His sorrow is too deep for tears. It is here that we find Kalidasa in one of his best poems

Contd.....(2).....

where he takes a peep into the human mind and in his inimitable way gives us a psychological study. These verses appeal more to the heart than to the brain and that is why they have been picked up here.

Raghuvansa, Canto VII, verses.

विललाप स वाष्पगदग्दं सहजामप्यपहाय धीरताम् ।
अभितप्तमयो पि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिषु ।।

कुसुमान्यपि गात्रङ्मात्प्रभवन्त्यत्यायुरपोहितुं यदि ।
न भविष्यति हन्त साधन किमिवान्यत्प्रहरिष्यतो विधेः ।।

अथवा मृदु वस्तु हिंसितुं मृदुनैवारभते प्रवायन्तकः ।
हिमेकविपचिरत्र मे नलिनी पूर्वनिदर्शनं मता ।।
स्त्रिगियं यदि जीवतापहा हृदये किं निहिता न हन्ति माम् ।
विषमप्यमृतं क्वचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया ।।

[illegible]
अथवा मम भा यविप्लवादशनिः कल्पित एष वेधसा ।
यदनेन तरून्नं पातितः क्षपतिा तद्विटपाश्रिता लता ।।
कृतवत्यसि नावधीरणामपराद्धेयपि यदा चिरं मयि ।
कथमेकपदे निरागंस जनमाभाष्यमिमं न मांयसे ।।
ध्रुवमस्मि शठः शुचिस्मिते विदितः कैतववत्सलस्तव ।
परलोकमसंनिवृत्तये यदनापृच्छ्य गतायसि मामितः ।।
दयितां यदि तावदन्वगाद्विनिवृत्तं किमिदं तया बिना ।
सहतां हतजीवितं मम प्रबलामात्मकृतेन वेदनाम् ।।
सुरतश्रमसम्भृतो मुखे ध्रियते स्वेदलवोदग्मोयपि ते ।
अथ चास्तमिता त्वमात्मना धिगिमां देहभृतामसारताम् ।।
मनसायपि न विप्रियं मया कृतपूर्वं तव किं जहासि माम् ।
ननु शव्दपतिः क्षितेरहं त्वयि मे भावनिबन्धना रतिः ।।
कुसुमोत्खचितान्वली भृतश्चलयन्भंगारूचस्तावालकान् ।
करभोरू करोति मारूतस्त्वदुपावर्तनशकि मे मनः ।।
तदपोहितुमर्हसि प्रिये प्रतिबोधेन विषादमाशु मे ।
ज्वलितेन गुहागतं तमस्तुहिनाद्रेरिव नक्तमोषधिः ।।
इदमुच्छ्वसितालकं मुखं तव विश्रान्तकथं दुनोति माम् ।
निशि सुप्तमिवैकपंकज विताभृयन्तरषट्पदस्वनम् ।।
शशिनं पुनरेति शर्वरी दयिता द्वन्द्वचरं पतत्रिणम् ।
इति तौ विरहान्तरक्षमौ कथमत्यन्तगता न मां देहः ।।

[illegible]

नवपल्लवसंस्तरेऽपि ते मृदु दूयेत यदङ्गमर्पितम् ।
तदिदं विषहिष्यते कथं वद वामोरु चितायुधि रोहणम् ।।
इयमप्रतिबोधशायिनीं रशना त्वां प्रथमा रह:सखी ।
गतिविभ्रमसादनीरवा न शुचा नानुमृतेव लक्ष्यते ।।
कलमन्यभृतासु भाषितं कलहंसीषु मदालसं गतम् ।
पृषतीषु विलोलमीक्षितं पवनाधूतलतासु विभ्रमा: ।।
त्रिदिवोत्सुकया प्यवेक्ष्य मां निहिता: सत्यममी गुणास्त्वया ।
विरहे तव मे गुरुव्यथं हृदयं नत्ववलम्बितुं क्षमा: ।।
मिथुनं परिकल्पितं त्वया सहकार: फलिनी च नन्विमौ ।
अविधाय विवाहसत्क्रियामनयोर्गम्यत इत्यसाम्प्रतम् ।।
कुसुमं कृतदोहदस्त्वया यदशोकोऽयमुदीरयिष्यति ।
अलकाभरणं कथं नु तत्तव नेष्यामि निवापमाल्यताम् ।।
स्मरतेव सशब्दनूपुरं चरणानुग्रहमन्यदुर्लभम् ।
अमुना कुसुमाश्रुवर्षिणा त्वमशोकेन सुगात्रि शोच्यसे ।।
तव निश्वसितानुकारिभिर्बकुलैरर्धचिता समं मया ।
असमाप्य विलासमेखलां किमिदं किन्नरकण्ठि सुप्यते ।।
समदु:खसुख: सखीजन: प्रतिपच्चन्द्रनिभोऽयमात्मज: ।
अहमेकरसस्तथापि ते व्यवसाय प्रतिपत्तिनिष्ठुर: ।।
धृतिरस्तमिता रतिश्च्युता विरतं गेयमृतुर्निरुत्सव: ।
गतमाभरणप्रयोजनं परिशून्यं शयनीयमद्य मे ।।
गृहिणी सचिव: सखी मिथ: प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम् ।।

-
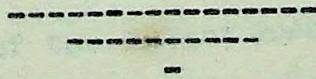
Purusa-Sukta.

The Purusa-Sukta forms one of the six or seven hymns dealing with the creation of the world from some original material. Purusa is the primeval giant. He is the supreme creator. In this hymn gods are said to be the agents of creation while the material out of which the world has come into being is the body of Purusa or the primeval giant. In the words of Prof.A.A.Macdonell, the act of creation is here treated as a sacrifice in which Purusa is the victim, the parts when cut up becoming portions of the universe. In the first four stanzas the Purusa is described as the all pervading god with a thousand heads, eyes and face. He is to be understood as Aja or   as against the other Purusa who is said to be born earlier: Jatam agratah in verse 7 (b). From this all pervading first Purusa, a god or rather a pair of gods is said to have come out of it is Viraj and the second(born) Purusa. The former appears to be conceived as female and the other as male. The basic idea of the hymn is that the whole world is one Being, who having pervaded the whole world from all sides still remained overand above it.

The language and the subject matter of this hymn points to us being one of the latest hymns of the Rgveda. Not only does it know of the three oldest Vedas the Rg, Yajur and Sama to which it refers by name but it also refers for the first time the four castes.

The religious concept too is different. The hymn presents a pantheistic view. He says, Purusa is all this world, what has been and shall be. This hymn has very rightly been described by scholars to be the standing point of the pantheistic philosophy of India.

Contd....(2).....

Manu Smrti

Manu Smrti, or the Code of Manu is a very important work in the field of Hindu Law and jurisprudence. Since very early times Hindu social organisation is governed by it and derives sanction from it. It is the first work in the chain of many which lays down a code of conduct not only for an individual but between individuals and has as a modern scholar points out a profound influence on society. Manu generally is more known for his laws - the code he lays down for rites of marriage, the inheritance, and partition of property, the adoption of child, the legal contract and the legal procedure, and such other things. But he was not a legal expert only. Manu smrti is not a work of jurisprudence alone. Manu was a social thinker and the maker of Indian civilisation. It is for this distinct contribution of his that he is remembered in India. He is quoted profusedly as an authority on various problems; "Manu Svayambhuva' braviti" thus spoke Manu, the son of Svayambhu. In the words of Sir Ernest Wood, "for one thing we have to remember that its influence was dominant in Indian social organization far back in classical times, and that it is spread over the extensive region where Indian commerce, civilization and culture went. The very word 'man' which now dignifies this far from happy breed, humanity, obviously derived from the same old Sanskrit root 'man' to think which was also adopted as a personal title by the writer or writers and the compilers of the Dharma Sastra (Manu Smrti)

Importance of the verses chosen for recitation:

The twenty one verses given below introduce us to the importance of Dharma which forms the bed rock of all Hindu social, philosophical and legal thinking. In the whole work they stand out as the most remarkable for their beauty and charm and depth of meaning. It is here that we meet with the

Contd....(2).....

यदि नात्मनि पुत्रेण न चेत्पुत्रेषु ।
न त्वेव तु कृतो धर्मः कर्तुर्भवति निष्फलः ।।१७३।।

अधर्मेणैते तावत्ततो भद्राणि पश्यति ।
ततः सपत्ना यति समूलस्तु विनश्यति ।।१७४।।

सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवारमेत्सदा।
शिष्यां शिष्याद्धर्मेण वाग्बाहूदरसंयतः ।।१७५।।

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ ।
धर्मं चाप्यसुखोदर्शं लोकवि ष्टमेव च ।।१७६।।

न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलो नृजुः ।
न स्याद्वा पलश्चैव न परद्रोहकर्मधीः ।।१७७।।

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः ।
तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते ।।१७८।।

ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैर्मातुलातिथिसंश्रितैः ।
बालवृद्धातुरैर्वैद्यैर्ज्ञातिसंबन्धिबान्धवैः ।।१७९।।
मातापितृभ्यां जामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया ।
दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत् ।।१८०।।

एतैर्विवादान्संत्य ज्य सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
एभिर्जितैश्च जयति सर्वा लोकानिमान्गृही ।।१८१।।

आचार्यो ब्रह्मलोकेशः प्राजापत्ये पिता प्रभुः ।
अतिथिस्त्विन्द्रलोकेशो देवलोकस्य चर्त्विजः ।।१८२।।

जामयो प्सरसां लोके वैश्वदेवस्य बान्धवाः ।
संबन्धिनो पां लोके पृथिव्यां मातृमातुलौ ।।१८३।।

आकाशेशास्तु विज्ञेया बालवृद्धकृशातुराः ।
भ्राता ज्येष्ठः समः पित्रा भार्या पुत्रः स्वका तनुः ।।१८४।।

छाया स्वो दासवर्गश्च दुहिता कृपणं परम् ।
तस्मादेतैरधिक्षिप्तः सहेतासंज्वरः सदा ।।१८५।।

प्रतिग्रहसमर्थो पि प्रस तत्र वर्जयेत् ।

प्रतिग्रहेण स्याशु ब्राह्मं तेजः प्रशाम्यति ।।१८६।।

न द्रव्याणामविज्ञाय विधिं धर्म्यं प्रतिग्रहे ।
प्राज्ञः प्रतिग्रहं कुर्यादवसीदन्नपि क्षुधा ॥१८७॥

हिरण्यं भूमिमश्वं गामन्नं वासस्तिलान्घृतम् ।
प्रतिगृह्णन्नविद्वांस्तु भस्मीभवति दारुवत् ॥१८८॥

हिरण्यमायुरन्नं च भूर्गौश्चाप्योषतस्तनुम् ।
अश्वश्चक्षुस्त्वचं वासो घृतं तेजस्तिलाः प्रजाः ॥१८९॥

अतपास्त्वनधीयानः प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः ।
अम्भस्यश्मप्लवेनैव सह तेनैव म ति॥१९०॥

तस्मादविद्वान्बिभियाद्यस्मात्तस्मात्प्रतिग्रहात् ।
स्वल्पकेनाप्यविद्वान्हि प गौरिव सीदति ॥१९१॥

-----

view that even though one may come to griefdue to the performance of Dharma one should not set one's mind on Adharma. One should not sverve from the righteous path is the central teaching of Manu, the first lawgiver of India. Manu recognizes that a non-righteous deed does not yield an evil fruit immediately, a succifient warning for evil doers. Indeed, we find that Adharma, unrighteousness, apparently is a very fruitful thing. Evil doers and others are at first seen to thrive and flourish most. But ultimately they dig their own grave. In his inimitable style Manu declares that the evil deed if performed never goes without yielding an evil result. This inevitability of the nemeses operating; this;law of divine reprieve from whose purview not even the sons and grandsons of evil doers are exempt has very lucidly been put forward in the Manu Smrti and there lies its distinct contribution to philosophical thinking. The Manu Smriti advised that one should follow the same path which was once followed by one's forefathers. By following the same path one would not come to grief. Some of the following verses have gained such a popularity that they have become household words in India. They have also been quoted most frequently in later Sanskrit writings.

Manu Smrti, Adhyaya 4, Verses 170-191.

अधार्मिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम् ।
हिंसारत यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते ।।१७०।।

न सीदन्नपि धर्मेण मनो धर्मे निवेशयेत् ।
अधार्मिकाणां पापानामाशु पश्यन्विपर्ययम् ।।१७१।।

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव ।
शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति ।।१७२।।